हमारे पुरोधा–4

साहित्य और इतिहास के संत

गौरीशंकर हीराचंद ओझा

(व्यक्तित्व और कृतित्व)

लेखक

डॉ. सोहनलाल पटनी

प्रकाशक

राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर

☐ प्रकाशक
राजस्थान साहित्य अकादमी,
उदयपुर

☐ मूल्य : दस रुपया मात्र

☐ प्रथम संस्करण : 1988

क्रम

वक्तव्य

राजस्थान साहित्य अकादमी की सचालिका सभा के निर्णयानुसार प्रान्त के दिवगत साहित्यकारों के योगदान को रेखांकित करने और नई पीढ़ी को उनके कृतित्व से परिचित कराने की दृष्टि से 'हमारे पुरोधा' सिरीज का प्रकाशन किया जा रहा है। इस सिरीज मे उन पूर्वज साहित्यकारों के व्यक्तित्व-कृतित्व को प्रेषित करने का संकल्प है, जिन्होंने सृजन-परम्परा को नये आयाम दिये और रचनाधर्मिता के क्षेत्र मे मील के पत्थर-सा महत्व अर्जित किया। इसके पूर्व प्रांत के समकालीन रचनाकारों पर कृतिकार प्रस्तुति योजना के अन्तर्गत अब तक 47 मोनोग्राफ प्रकाशित हो चुके हैं। इनका सर्वत्र स्वागत हुआ है।

इस सिरीज के माध्यम से प्रयत्न यही है कि हम अपने उन पुरोधाओं को श्रद्धांजलि अर्पित कर सकें जो आज अतीत के विस्मृति-गर्भ मे चले गये हैं लेकिन जिन्होंने सृजन के क्षेत्र मे अपनी पहचान बनाई, मार्गदर्शन दिया और इस प्रान्त की रचना-क्षमता को भारतीय स्तर पर प्रतिष्ठित किया।

यह पुस्तक 'हमारे पुरोधा' सिरीज का चौथा प्रकाशन है।

स्व. गौरीशंकर हीराचंद ओझा भारतीय साहित्य और इतिहास जगत के श्लाघा पुरुष हैं। हिन्दी मे ऐतिहासिक निबंधो का सूत्रपात उन्ही से होता है। लिपि शास्त्र के वे अन्यतम अध्येता थे। उनके द्वारा रचित 'भारतीय लिपि शास्त्र' का उल्लेख गिनीज् वर्ल्ड बुक मे इस सम्बन्ध मे रचित हिन्दी की पहली पुस्तक के रूप मे किया गया है। हिन्दी भाषा, साहित्य, भारतीय संस्कृति, पत्रकारिता, इतिहास और पुरातत्व के क्षेत्र मे ओझाजी का ऐतिहासिक योगदान रहा है। ऐसी विलक्षण बहुमुखी प्रतिभा का रचनाकार आज तो बहुत विरल है। उन्होंने इतिहास, पुरातत्व और साहित्य के अनेक अनछुए पहलुओं को न केवल उद्घाटित किया अपितु भविष्य के लिये इन क्षेत्रो मे काम करने वालों के लिये आलोक स्तम्भ का काम भी किया।

ओझाजी ने राजस्थान की प्रायः सभी पुरानी देशी राज्यों के इतिहास की रचना, वैज्ञानिक दृष्टि से की है। कर्नल टॉड के 'राजस्थान' विषयक बहुचर्चित अंग्रेजी ग्रन्थ का उन्होंने ही सर्वप्रथम हिन्दी में अनुवाद प्रस्तुत किया। अनुवाद के साथ-साथ उन्होंने टॉड की त्रुटियों के परिमार्जन का काम कर अपने इतिहास-बोध से सुधिजनों को चमत्कृत कर दिया। सन् 1911 में लार्ड कर्जन ने उन प्रभावित होकर दिल्ली-दरबार में विशेष रूप से आमन्त्रित किया और स 1914 में भारत सरकार ने उनके उपलब्धिमूलक योगदान पर उन्हें रायबहादु की उपाधि से विभूषित किया। नागरी प्रचारिणी पत्रिका का उन्होंने तेर वर्ष तक सम्पादन कर उसे जो प्रतिष्ठा और गरिमा दी वह ऐतिहासिक दस्तावे की तरह मूल्यवान है।

ओझाजी बहुश्रुत विद्वान् थे। अपनी यायावरी प्रवृत्ति के कारण उन्होंने इतिहास के धुंधलके में प्रसुप्त पड़ी भारतीय सभ्यता और संस्कृति की अनमोल कड़ियों को खोज निकाला। ओझाजी के इतिहास, पुरातत्व, संस्कृति आदि क्षेत्रों के योगदान की तुलना में उनके साहित्यिक योगदान की चर्चा अपेक्षाकृत कम हुई है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने सन् 1933 में 'भारतीय अनुशीलन ग्रन्थ' का प्रकाशन वस्तुतः उन्हीं के अभिनन्दनार्थ किया था।

भाई डॉ. मोहनलाल पटनी ने स्वर्गीय ओझा जी के व्यक्तित्व-कृतित्व पर लिख कर वस्तुतः राजस्थान साहित्य अकादमी को उपकृत किया है। वे ओझाजी के क्षेत्र सिरोही के ही निवासी हैं और अपनी मौन साधना में लीन, दिखावे से दूर अपनी ही धुन में कार्यरत हैं। उनसे अधिक सक्षम, ओझाजी पर लिखने के लिये मेरी पीढ़ी का कोई दूसरा व्यक्ति दृष्टि में था ही नहीं। पटनी जी ने बड़े श्रम से ओझाजी के समूचे सृजन और योगदान की श्रमसाध्य पड़ताल की है। उनके स्वतः स्फूर्त सहयोग के बिना इसका प्रकाशन सम्भव नहीं था। मैं व्यक्तिशः और समूचा अकादमी परिवार उनका कृतज्ञ है।

राजस्थान साहित्य अकादमी का अपने पुरोधाओं को श्रद्धांजलि देने का यह विनम्र प्रयास है। आशा है सुधिजन हमें प्रोत्साहित करेंगे।

डॉ. प्रकाश आतुर
अध्यक्ष
राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर

उपोद्धात

भार... ...ता संग्राम के स्वदेशी आन्दोलन में महा-महोपाध्याय डॉ गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का नाम उन हिन्दी प्रेमियों में अग्रणी है जिन्होंने केवल हिन्दी में ही लिखा। उनका लेखन हिन्दी साहित्य के द्विवेदी युगीन संस्कारों से स्फूर्त एवं भारत भारती से अनुप्राणित था। यद्यपि वे प्रत्यक्षतः भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन से नहीं जुड़े थे पर अप्रत्यक्ष रूप में वे इतिहास एवं संस्कृत के क्षेत्र में शुद्ध स्वदेशी आन्दोलन का सूत्रपात कर चुके थे। वे ब्रिटिश सरकार से सम्मानित भी हुए तो अपने राष्ट्र के इतिहास को उजागर करने के कारण।

अंग्रेजी विद्वानों के संसर्ग में रहकर भी उन्होंने अपना सम्पूर्ण साहित्य हिन्दी में ही लिखा। दिल्ली दरबार में निमन्त्रित भी हुए तो घुटनों तक धोती पहने अचकन और मेवाड़ी पगड़ी में गये। हिन्दी में ऐतिहासिक निबन्धों के वे पुरोधा थे और लिपि शास्त्र के अन्यतम अध्येता। भारतीय लिपिशास्त्र का अध्ययन करने के इच्छुक प्रत्येक देशी-विदेशी विद्वान को उनकी प्राचीन लिपि माला के अध्ययन हेतु हिन्दी की शरण में जाना पड़ता है। इस ग्रन्थ से हिन्दी संसार गौरवान्वित हुआ है। 'गिनीज वर्ल्ड बुक' में उद्धृत यह हिन्दी की पहली पुस्तक है।

...के दौरान उनके ज्येष्ठ पुत्र स्व.
...ध्यवत् घनिष्ट संसर्ग रहा है
...एवं कृतित्व के साक्षी रहे हैं।
...एवं कृतित्व का परिचय मिला

था जो बाद में उनके साहित्य के अनुशीलन से पुष्ट हुआ। वे भूतपूर्व अर्बुदमण्डल के सिरोही राज्य के निवासी थे। उनका प्रथम इतिहास ग्रन्थ भी सिरोही राज्य का इतिहास ही था। मैं भी अर्बुदमण्डल का निवासी हूं। अर्बुदमण्डल के इतिहास को जहां उन्होंने छोड़ा था वहीं से उसके सांस्कृतिक पक्ष को मैंने अपनी पुस्तक 'अर्बुदमण्डल का सांस्कृतिक वैभव' में विवेचित किया है।

ओझाजी के समग्र कृतित्व का रसास्वादन हिन्दी भाषा, साहित्य संस्कृति एवं पुरातत्व के संयोग से बने प्रपानक रस की तरह करना चाहिए, क्योंकि मात्र इतिहासकार के रूप में उनका मूल्यांकन एकांगी होगा। वे रचनाधर्मी लेखक, इतिहासकार एवं सम्पादक के त्रिवेणी संगम थे।

ऐसे मनीषी पर लिखने के लिए राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर ने मुझे अवसर दिया है, तदर्थ मैं अकादमी अध्यक्ष डॉ. प्रकाश आतुर एवं सचिव डॉ. लक्ष्मीनारायण नन्दवाना का आभारी हूं। ओझाजी के रचना संसार का अंशावतार उनके विराट व्यक्तित्व का परिचय करवायेगा ऐसा मेरा विश्वास है। अंशावतरण में उनके लम्बे निबन्धों का समावेश नहीं किया जा सका है एवं ऐसे निबन्ध भी नहीं लिये गये हैं, जिनमें संस्कृत उद्धरणों एवं पादटिप्पणियों की अधिकता थी क्योंकि इससे पुस्तक के कलेवर के बढ़ने की सम्भावना थी।

ओझाजी के साहित्यिक निबन्ध अभी भी अप्रकाशित हैं। विद्वानों को इस ओर पहल एवं उनके परिवार जनों को इसमें योगदान देना चाहिए तभी उनके कृतित्व का पुनर्मूल्यांकन प्रारम्भ होगा।

डॉ. सोहनलाल पटनी
शान्तिनगर, सिरोही (राज.)

गौरीशंकर हीराचंद ओझा

स्वनाम धन्य रायबहादुर महामहोपाध्याय डॉ गौरीशंकर हीराचंद ओझा का नाम प्राचीन भारतीय इतिहास के अनुसंधित्सुओं में विशिष्ट है। उनका विराट कृतित्व भारतीय मनीषा के आकाश में उन उज्ज्वल नक्षत्रों की भाँति चमक रहा है जिनके प्रकाश ने समकालीन तथा अर्वाचीन साहित्य इतिहास तथा पुरातत्व का पथ प्रशस्त किया है।

इतिहास पुरुष ओझा

ओझाजी राजपूताने के इतिहास के पुरोधा, उसके ऐतिहासिक संघर्ष के द्रष्टा तथा हिन्दी के ऐतिहासिक निबन्धों के प्रणेता थे। वे प्राचीन भारत की लिपियों के ज्ञाता एवं शिलालेखों के सन्दर्भ के व्यासकार थे। अपने इतिहास, देश व हिन्दी प्रेम के कारण वे राजस्थान के इतिहास के वेद व्यास बने। उन्होंने ही राजस्थान की देशी रियासतों को उनके स्वर्णिम अतीत की झांकी दिखाई। वे भारतीय इतिहास संस्कृति और पुरातत्व के त्रिवेणी संगम थे एवं राजस्थान के इतिहास के सर्वोच्च शिखर मानो गौरीशंकर थे।

शैशव एवं शिक्षा

उनका जन्म सिरोही राज्य के रोहिड़ा ग्राम में संवत् 1920 भाद्रपद शुक्ला द्वितीया तदनुसार 14 सितम्बर 1863 को हुआ था। वे सहस्त्र औदिच्य जाति के थे जिन्हें इस इलाके में गौरवाल ब्राह्मण कहते हैं। उनके पिता का नाम हीराचन्दजी ओझा था एवम् दादा का नाम पीताम्बरजी ओझा। पीताम्बरजी अच्छे व्यापारी थे। मेवाड़ के भोमट एवं सिरोही राज्य के रोई व भीतरट इलाकों के बीच उनका व्यापार खूब चलता था।

उनके तीन पुत्र थे-सदाशिव, मायाराम व हीराचन्द। पीताम्बरजी की मृत्यु के पश्चात् सदाशिवजी ने व्यापार व लेन-देन में ध्यान नहीं दिया एवम् घर की ऐसी हालत हो गई कि यजमानी के अतिरिक्त जीविकोपार्जन का कोई सहारा नहीं रहा। तीनों भाई अलग हो गए। हीराचंद को पढ़ने लिखने का शौक था। लिखने का कागज बनाना, उसे घोंटकर चिकना बनाना, लाख से पक्की स्याही बनाना उनके शौक थे। वे ग्रन्थों की नकल भी करते थे एवं जीविका चलाने के लिये वे वैद्य का काम भी करते थे। उनके चार पुत्र थे-नन्दराम, भूराराम, ओंकारलाल और गौरीशंकर।

छः वर्ष की अवस्था में गौरीशंकर को गांव की पाठशाला में पढ़ने बिठाया गया, जहां उन्होंने चौदह वर्ष की अवस्था तक अध्ययन किया। यहां उन्होंने गणित, हिन्दी एवं अंग्रेजी पढ़ी। आठ वर्ष की अवस्था में उनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ एवम् कुल परिपाटी के अनुसार उन्हें शुक्ल यजुर्वेद का अध्ययन करवाया गया। बालक गौरीशंकर की स्मरण-शक्ति बहुत तीव्र थी। उसने शुक्ल यजुर्वेद को कंठाग्र कर लिया एवम् उसके चालीस अध्यायों को चालीस दिन में अपने अध्यापक को सुना दिया। पिता अपने पुत्र की प्रतिभा से बहुत प्रभावित हुए एवम् उसकी भविष्य की पढाई के लिए चिन्तित भी हुए।

इसी तरह छः वर्ष और निकल गए। हीराचन्दजी ने अपने घर की आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए अपने सबसे बड़े लड़के नन्दराम को मुनीमी करने के लिए बम्बई भेज दिया था। वे एक पेढ़ी पर मुनीमी करते थे। उनके बम्बई में जमने पर 14 वर्ष के बालक गौरीशंकर को भी मंझले भाई ओंकारजी के साथ बम्बई रवाना किया।

उन दिनों राजपूताने में रेल नहीं थी अतः उन्हें रोहिड़ा से अहमदाबाद 160 मील की यात्रा पैदल तय करनी पड़ी। अहमदाबाद से रेल में सवार होकर वे बम्बई पहुँचे एवम् कुछ दिनों तक एक प्राइवेट स्कूल में गुजराती सीखने लगे, क्योंकि बम्बई में अध्ययन के लिए गुजराती पढ़ना आवश्यक था। गुजराती सीखने के बाद वे गोकुलदास तेजपाल स्कूल में भर्ती हुए। वहां की पढ़ाई करने के पश्चात् वे 17 वर्ष की आयु में एल्फिन्स्टन हाईस्कूल में भर्ती हुए। इन्हीं दिनों उन्होंने जिदालक्ष्मी संस्कृत पाठशाला में संस्कृत और प्राकृत का अध्ययन किया। भाई नन्दराम का मकान एक तंग कोठरी में था जहां पढ़ने के लिए सुविधा व अवसर नहीं था, अतः गौरीशंकर मकान के सामने स्थित बालेश्वरी

के छोटे मन्दिर की परिक्रमा में मिट्टी के तेल का दीपक जलाकर पढ़ने लगे एवं नींद आने पर वहीं चटाई पर सो जाते।

यहां उनके अध्ययन क्षेत्र में संस्कृत, गणित एवम् अंग्रेजी खास विषय थे। एल्फिन्सटन हाईस्कूल के सामने ही 'नेटिव जनरल लाइब्रेरी' थी। वे उसके मेम्बर बन गये एवं वहां जाकर अपनी ज्ञान पिपासा शांत करने लगे। जीविकोपार्जन हेतु सुबह-शाम ट्यूशन भी करने लगे। अपने विश्राम के समय वे रॉयल एशियाटिक सोसायटी की लाइब्रेरी में जाते एवम् यहीं से उनकी रूचि इतिहास की ओर प्रवृत्त हुई। यहीं उन्होंने मिश्र, यूनान, चीन, रोम आदि देशों के इतिहास एवम् गुजराती भाषा में लिखी फार्बस साहब की रासमाला पढ़ी।

सन् 1883 में बीस वर्ष के इस युवक के मन में अपनी मातृ-भूमि सिरोही के इतिहास को जानने की इच्छा जागृत हुई एवं उन्होंने सिरोही रियासत को सिरोही के इतिहास सम्बन्धित जानकारी भेजने के लिए लिखा पर वहां से यह उत्तर मिला कि यहाँ पर राज्य का कोई लिखित इतिहास नहीं है एवम् जो कुछ था उसे सन् 1817 में जोधपुर के महाराज मानसिंह के सेनापति साहिबचन्द मूथा ने सिरोही पर हमला कर नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है।

उन्होंने एशियाटिक सोसायटी के पुस्तकालय में अपने जन्मस्थान की ऐतिहासिक सामग्री को ढूंढना प्रारम्भ किया एवम् फार्बस साहब द्वारा संगृहीत हस्तलिखित पुस्तकों को टटोलना शुरु किया। इधर उनके हाथ में कर्नल मॅलीसन की प्रसिद्ध पुस्तक 'नेटिव स्टेट्स ऑफ इण्डिया' लगी। उस पुस्तक में लिखा था कि राजपूताने में केवल सिरोही राज्य ही ऐसा है कि जिसने अपनी स्वतन्त्रता कायम रखी और न मुगलों, न मराठों और न ही राठोड़ों की अधीनता स्वीकार की। ओझाजी को ऐतिहासिक सामग्री के अध्ययन में आनन्द आने लगा। इधर अध्ययन भी बराबर चल रहा था।

सन् 1885 में 22 वर्ष की अवस्था में मेट्रिकुलेशन पास कर उच्च शिक्षा के लिए विल्सन कॉलेज में भर्ती हुए। कॉलेज में आपने इंग्लिश, गणित तथा विज्ञान का अध्ययन किया। संस्कृत इनका प्रिय विषय था, अतः संस्कृताध्यापक गोडबोले महाशय से अलग में भी संस्कृत पढ़ी। पढ़ाई में पूरा ध्यान देने पर भी परीक्षा के समय बीमार हो जाने के कारण इन्टरमीडियेट की परीक्षा में नहीं बैठ सके एवम् सन् 1887 में उन्हें अपने गांव रोहिड़ा लौटना पड़ा। इन्हीं दिनों में [illegible] हो चुकी थी अतः रोहिड़ा आकर ठीक समय तक सिरोही राज्य का

भ्रमण किया और अनेक प्राचीन शिलालेखों, ताम्रपत्रों तथा भाटों की लिखी ख्यातें पढ़ीं।

जीवन संघर्ष एवं विकास यात्रा

तीन महीने बाद वे पुनः बम्बई पहुंचे एवम् वकील बनने हेतु कानून की परीक्षा की तैयारी करने लगे। परीक्षा तो पास करली पर उनकी वकालात में रूचि नहीं हुई। बम्बई में रॉयल एशियाटिक सोसायटी के मिस्टर फार्बस के संग्रह में उन्होंने राजपूत इतिहास सम्बन्धी कुछ हस्तलिखित पोथियां तथा आबू के शिलालेखों की छापें देखी। उन्हें देखने से एवम् 'कर्नल टॉड' के 'ऐनल्स एण्ड एन्टीक्विटिज ऑफ राजस्थान' तथा 'ट्रेवल्स इन वेस्टर्न इण्डिया' को पढ़कर राजस्थान का इतिहास जानने की उत्कट अभिलाषा जागी। रायल एशियाटिक सोसायटी के पुस्तकालय में एक दिन उनका परिचय प्रसिद्ध लिपिशास्त्री एवम् भारत विद्याविद् डॉ. भगवानलालजी इन्द्र से हुआ।

डॉ. इन्द्रजी से प्रभावित होकर वे उनसे लिपिशास्त्र सीखने लगे। तब तक लिपिशास्त्र की कोई पुस्तक उपलब्ध नहीं थी। वे भिन्न भिन्न स्थानों पर जा एवम् लिपि सम्बन्धी लेख पढ़कर प्राचीन लिपियां सीखने लगे। डॉ. इन्द्रजी उनकी जिज्ञासा से प्रभावित थे। एक दिन डॉ. भगवानलाल इन्द्र के यहां कुषाण कालीन मूर्ति के नीचे के अभिलेख को उन्होंने पढ़ डाला तो इन्द्रजी अपने शिष्य से बहुत प्रभावित हुए एवं उन्हें अपने गुजरात के इतिहास लेखन में सहयोग देने का प्रस्ताव रखा। प्राचीन मुद्राओं का ज्ञान भी आपने डा. इन्द्रजी से प्राप्त किया था।

23 वर्ष की अवस्था में सन् 1886 में बम्बई से वे पुनः अपने पैतृक गांव रोहिड़ा वापस आ गये। उनका विवाह भी हो गया तथा अब जीविका हेतु कोई साधन ढूंढना बहुत आवश्यक हो गया था। साधन भी ऐसा जिसमें अपने इतिहास रस की पिपासा भी शांत हो एवम् परिवार का भरण पोषण भी हो जाय। अतः वे अपने पैतृक गांव रोहिड़ा से अपनी पत्नी के साथ गोगुन्दा के पहाड़ी रास्ते पैदल चलकर प्रथम चैत्रविद संवत् 1944 (1887 ई.) में उदयपुर पहुंचे। उन दिनों उदयपुर का साहित्यिक वातावरण बहुत गर्म था। पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता विषय में 'वीर विनोद' के रचयिता कविराजा श्यामलदास और पं. मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या के बीच खींचतान चल रही थी। ऐसी ... प्रायः मेवाड़ राज्य के पोथीखाने में हुआ करती थी।

यही पर ओझाजी का उक्त दोनों से परिचय हुआ और पृथ्वीराज रासो के विषय में उन्होंने दोनों महानुभावों को कुछ ऐसी बातें सुझाई कि जिन पर पहले उनका ध्यान नहीं गया था। पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता न मानने में आप कविराजा से सहमत थे। उन्होंने कविराजाजी और पंड्याजी के विचारों में कुछ त्रुटियाँ भी बताई एवम् उनके तद्विषयक चिंतन को नई दिशा दी। कविराजा उनसे बहुत प्रभावित हुए, एवं उन्हें अपने 'वीरविनोद' के लेखन में सहायक बनने का प्रस्ताव किया। उदयपुर के इतिहास विभाग में सहायक मंत्री के पद पर उनकी नियुक्ति भी हो गई।

ओझाजी के लिए उदयपुर राज्य के ऐतिहासिक स्थानों का भ्रमण करने का प्रबन्ध भी उदयपुर राज्य की तरफ से किया गया था। यहां रहकर वे खाली समय में मेवाड़ के ऐतिहासिक स्थलों का भ्रमण करते, शिलालेख पढ़ते एवं बाकी समय में कविराजाजी को 'वीरविनोद' लिखने में सहायता देते। कुछ ही दिनों में मेवाड़ राज्य के इतिहास विभाग में मंत्री का पद रिक्त होने पर आप इतिहास विभाग में सेक्रेटरी के पद पर नियुक्त हुए एवं 1887 से 1890 ई. तक इसी पद पर रहे। कर्नल टॉड के 'एनाल्स एन्टीक्वीटी' पुस्तक से योरोपीय विद्वान बहुत प्रभावित हो गये थे एवं राजस्थान के इतिहास के शोध और संशोधन में रूचि लेने लगे थे। तत्कालीन वायसराय के प्रयत्न से सन् 1890 में उदयपुर में विक्टोरिया हॉल संग्रहालय खुला और आप उसके प्रथम क्यूरेटर (प्रध्यक्ष) नियुक्त हुए। विक्टोरिया हॉल में प्राचीन मूर्तियाँ, अभिलेखों आदि का जो संग्रह दिखाई देता है वह ओझाजी के प्रयत्नों का ही फल है।

इस संग्रहालय के लिये आपने चित्तौड़ के पास प्राचीन माध्यमिका नगरी के शिलालेखों से लेकर 17 वीं शताब्दी तक की सामग्री को सजोया। उदयपुर के प्रसिद्ध ज्योतिषी पंडित विनायक शास्त्री वेताल का संसर्ग आपके व्यक्तित्व के विकास एवं हिन्दी भाषा के भण्डार की श्रीवृद्धि के लिए महत्वपूर्ण साबित हुआ। पंडित विनायक शास्त्री से प्रभावित होकर उन्होंने यह संकल्प किया कि वे अपने सारे ग्रंथ हिन्दी भाषा में ही लिखेंगे। पं. विनायक शास्त्री से आपने ज्योतिष भी सीखा था। यह ज्ञान बाद में ऐतिहासिक काल निर्धारण में बहुत काम आया।

लेखन का प्रारम्भ

उन दिनों भारतवर्ष में भारत विद्या सम्बन्धी शोधकार्यों के अतिरिक्त प्राचीन शिलालेखों को जानने के लिए देशी और विदेशी विद्वान लालायित थे।

प्राचीन लिपियों के अध्ययन के लिए देशी एवं विदेशी विद्वानों के पास
निबंधों के अतिरिक्त ग्रन्थ रूप में कोई सामग्री उपलब्ध नहीं थी। लिपि
का प्रामाणिक अध्ययन प्रस्तुत करने हेतु एवं अपने लिपिशास्त्र के गुरु
भगवानलाल इन्द्रजी से मिले ज्ञान को साकार रूप देने के लिए उन्होंने
1894 में 'प्राचीन लिपि-माला' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसका प्र
उदयपुर से हुआ। इस ज्ञान को सर्व-जन सुलभ बनाने के लिये उसका
मात्र मूल्य रखा।

यह भी एक विचित्र संयोग था कि भारतीय लिपियों का क्रमिक वि
बताने वाला और भारत की प्राचीन लिपियों को सीखने के लिए यह पहला
हिन्दी में लिखा होने के कारण इससे हिन्दी और हिन्दी भाषी गौरवान्वित हु
इन्हीं से प्रेरणा प्राप्त कर जर्मन विद्वान डॉ. बुहलर ने जर्मन भाषा में
पेलियोग्राफी नाम का लिपिशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ लिखा। उनकी प्राचीन लि
माला को कलकत्ता विश्वविद्यालय ने प्राचीन इतिहास के अध्ययन के
एम. ए. इतिहास के पाठ्यक्रम में रखा।

कर्नल टॉड 'राजस्थान' ग्रन्थ अंग्रेजी भाषा में था, इसलिए खड्ग वि
प्रेस बांकीपुर के स्वामी महाराजकुमार बाबू रामदीन सिंह के अनुरोध
उन्होंने टॉड के 'राजस्थान' का हिन्दी अनुवाद किया एवं टॉड के द्वारा की
भूलों का अपनी संपादकीय टिप्पणियों में संशोधन किया। यह सम्पादन
विद्वतापूर्ण था एवं टॉड की ऐतिहासिक त्रुटियों के परिमार्जन के दृष्टिकोण
हुआ था। इन्हीं दिनों कर्नल टॉड के इतिहास प्रेम और राजस्थान के लि
किये गए उनके कार्य को हिन्दी भाषियों को बताने के लिए उन्होंने कर्नल टॉ
की जीवनी लिखी। इसी समय 'सोलंकियों का प्राचीन इतिहास' नामक पुस्त
लिखी जिसे 1907 में प्रकाशित करवाया गया। इसके अतिरिक्त कई अनुसं
परक लेख लिखे।

न्तु प्रो. रामेश्वर ओझा के अनुसार इस निमंत्रण की यह विशेषता थी कि मेवाड़ के 235 सरदारों को एक ही निमंत्रण से बुलाया गया था पर ओझाजी का निमंत्रण अलग से ही था।

सन् 1904 में जब डॉ. सर जार्ज-ए-ग्रियर्सन अपने 'लिंगवेस्टिक् सर्वे ऑफ इण्डिया' नामक ग्रन्थ के प्रणयन के लिये भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण कर रहे थे तब उदयपुर राज्य और सिरोही राज्य की तरफ से यहाँ की बोलियों के सन्दर्भ में रिपोर्ट तैयार करने का काम आपको सौंपा गया था। लगभग इसी समय प्रख्यात भाषा-विद् डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने भारतीय भाषाओं का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने के लिये भारतवर्ष के क्षेत्रीय विद्वानों को इस पवित्र कार्य में योगदान देने के लिए आह्वान किया। राजस्थान से ओझाजी ने इस कार्य में महत्वपूर्ण योगदान किया। इन्हीं दिनों भारत सरकार ने 'इम्पीरियल गजेटियर' विभाग की स्थापना की। इस विभाग के अन्तर्गत राजस्थान गजेटियर तैयार करने का दायित्व कर्नल अर्सकिन् पर पड़ा। अर्सकिन् ने अपनी सहायता के लिए ओझाजी को उदयपुर से आबू बुला लिया। ओझाजी ने इस गजेटियर के लिए मेवाड़ व सिरोही रियासत में रहने वाली जातियों तथा उनके रीति-रिवाजों का सर्वेक्षण किया।

सन् 1907 तक ओझाजी मेवाड़ सर्विस में रहे। उनका यह समय उनकी प्रतिभा के विकास और पुरातत्ववेत्ताओं की पंक्ति में उनकी स्थापना का था। सन् 1908 में जब अजमेर में पुरातत्व म्यूजियम की स्थापना हुई तो उन्हें उसका अध्यक्ष बनाया गया एवं 1938 ई. तक वे यहीं रहे। अजमेर आने के पश्चात् ही आपके जीवन में स्थायित्व आया। यहां की नहर सड़क में उदयपुर रियासत के एक भवन में वे रहने लगे।

सन् 1953 में महाराणा भगवतसिंहजी ने इस भवन को उनके पुत्र प्रो. रामेश्वरजी ओझा को बेच दिया। मेयो कॉलेज के हेड पण्डित और हिन्दी के अमर कहानीकार पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, दीवान बहादुर हरबिलास शारदा एवं प. विशनलाल दुर्गाशंकर दुबे से उनका गहरा सम्पर्क स्थापित हुआ। बनारस उनका आना-जाना होता ही था और उनका सम्पर्क आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और बाबू श्याम सुन्दर दास से भी था। उनके आग्रह पर इन्होंने काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका में लिखना आरम्भ किया। इन्हीं दिनों भारतवर्ष के इतिहास की प्राचीन सामग्री नामक एक छोटी सी पुस्तिका भी आपने लिखी जिस पर आपको नागरी प्रचारिणी सभा ने एक पदक भेंट किया।

अजमेर में ही इन्होंने उदयपुर के मेहता जोधसिंह से मिलकर राजपूत की ऐतिहासिक दन्तकथाओं का संकलन प्रारम्भ किया जिसका प्रथम भाग खड्ग विलास प्रेस, पटना से छपा। उनके द्वारा लिखी गई एवं सम्पादित की गई कुछ फुटकर दन्तकथाएं पटना से निकलने वाली 'शिक्षा पत्रिका' में भी छपी थी।

प्रतिष्ठित इतिहासवेत्ता

अब तक आप भारत के ऐतिहासिक क्षितिज पर इतिहासवेत्ता एवं लिपि शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठापित हो चुके थे। तत्कालीन ब्रिटिश सरकार एवं यूरोपीय विद्वान आपकी प्रतिभा के कायल हो चुके थे, इसलिये 1911 ई. में दिल्ली दरबार में इन्हें विशेष रूप से निमन्त्रित किया गया एवं 1914 ई. में भारत सरकार ने आपको रायबहादुर की उपाधि से विभूषित कर अपने आपको गौरवान्वित माना।

ओझाजी की प्राचीन लिपिमाला का 1894 ई. वाला संस्करण समाप्त प्राय: सा हो गया था, तब उन्होंने 1918 में प्राचीन लिपिमाला का दूसरा बृहद् संस्करण तैयार किया। यह संस्करण अजमेर के 'स्कॉटिश मिशन प्रेस' से प्रकाशित हुआ। इसमें दो भाग हैं। पहला भारतवर्ष की प्राचीन लिपियों से सम्बन्धित और दूसरा शताब्दी क्रम से प्राचीन अभिलेखों का अध्ययन।

यह ग्रन्थ अपने आप में एक अजूबा है और किसी भी लेखक की कीर्ति पताका को दिग्दिगन्त फहराने के लिए पर्याप्त है। इसी ग्रन्थ पर 1924 ई. में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के दिल्ली अधिवेशन में आपको मंगला प्रसाद पारितोषिक से सम्मानित किया गया था। यह सम्मान हिन्दी और हिन्दी भाषियों के लिये गौरवमय था क्योंकि विश्व के सभी भाषाओं के विद्वानों को भारत विद्या का अध्ययन करने के लिए हिन्दी में लिखे इस ग्रन्थ को आधारभूत सामग्री के रूप में पढना पड़ता है। लिपिशास्त्र का एवं भारत विद्या का हिन्दी में लिखा यह ग्रन्थ गिनीज बुक में अंकित हुआ।

सन् 1911 के बाद का समय भारत में उनके प्राचीन सांस्कृतिक पुनरुत्थान का था। भारतवर्ष की प्राचीन गरिमा के गीतों को गाना और उसी के प्राचीन गौरव को उजागर करने वाले इतिहास और पुरातत्व का अध्ययन करना भारत वासियों के लिए आवश्यक सा हो गया था। अब निज संस्कृति और निज देश

की बातें होने लगी थी। हिन्दी साहित्य में यह समय द्विवेदी युग के चरमोत्कर्ष का था। हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएं भारतवर्ष की प्राचीन सामग्री से सजने सवरने लगी थी। इसी क्रम में 1920 ई. में नागरी प्रचारिणी पत्रिका को पुरातत्व शोध की पत्रिका का रूप दे दिया गया और ओझाजी को उसके सम्पादन का भार सौंपा गया। उन्होंने लगातार तेरह वर्ष तक इस पत्रिका का सम्पादन किया।

1923 ई. के आसपास उनके विद्वान मित्रों ने, जिनमें पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी भी थे, उन्हें आग्रह किया कि टॉड के राजस्थान में राजपूताने के केवल खास राज्यों का ही विवरण है, वह ऐतिहासिक तथ्यों से अधिक चारण भाटों की सुनी सुनाई बातों के आधार पर लिखा गया है, इसलिए राजस्थान के इतिहास की भ्रांतियों को मिटाने के लिए एवं आज तक की खोज को उसमें समाविष्ट करने के लिए राजपूताने का इतिहास लिखना बहुत आवश्यक है।

अपने मित्रों की भावना का आदर करते हुए उन्होंने 1924 ई. से राजपूताने के इतिहास को लिखना प्रारम्भ किया। इस क्रम से ओझाजी ने बारह पुस्तकें लिखीं और अंधेरे में भटकती राजपूताने की प्राचीन रियासतों के इतिहास को उजागर करना प्रारम्भ किया। सन् 1911 ई. में वे अपनी मातृभूमि सिरोही का इतिहास लिख चुके थे। अब उन्होंने सबसे पहले राजपूताने के इतिहास की प्रथम जिल्द में राजपूताने का भूगोल, राजपूत जाति एवम् प्राचीन राजवंशों का इतिहास लिखा।

उन्होंने राजस्थान के प्रथम इतिहास ग्रन्थ 'मुहणोत नैणसी री ख्यात' का सम्पादन किया। वर्षों के प्रयत्न के पश्चात् भारतवर्ष के प्रथम सुव्यवस्थित इतिहास ग्रन्थ कल्हण की राजतरंगिणी का भी उन्होंने विद्वतापूर्ण सम्पादन किया। उनकी इसी विशेषता के कारण 1928 में उन्हें महामहोपाध्याय की उपाधि से विभूषित किया गया। इस समय तक वे भारतीय प्राचीन लिपियों और राजपूताने के इतिहास के वेदव्यास के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। इतिहास अनुशीलन के साथ उन्होंने हिन्दी में ऐतिहासिक निबंधों की परम्परा डाल दी थी।

उनकी हिन्दी सेवाओं से प्रभावित होकर उन्हें हिन्दी साहित्य सम्मेलन के भरतपुर अधिवेशन में अध्यक्ष बनाया गया। इसी वर्ष गुजरात साहित्य सभा के नडियाद अधिवेशन में उन्होंने इतिहास विभाग के अध्यक्ष का कार्य किया। 1928 ई. में इलाहाबाद में हिन्दुस्तानी एकेडेमी के तत्वावधान में आपने मध्य कालीन भारतीय संस्कृति (सन् 600–1200 ई.) पर तीन महत्वपूर्ण व्याख्यान

गुलेरी उनके आत्मीय मित्रों में से थे। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी उनकी रचनाओं को सरस्वती में छापने के लिए उद्यत रहते थे। देशी राजाओं के निमंत्रण तो उनके पास सदैव आते ही रहते थे कि वे उनके राज्य का इतिहास लिखें पर उनके लिए रात थोड़ी और रास्ते अनेक थे। उन्होंने इतिहास के संपोषण के लिए प्रयोग किया। दर्शन की धाराओं को इतिहास की तरफ मोड़ा और पुरातत्व को अधकार के पर्दे से बाहर लाकर दुनिया के सामने रखा।

व्याकरण के नीरस सूत्रों में उन्होंने रस का आस्वादन किया। पाणिनि व्याकरण एवम् वेद–वेदांग के सदर्भों की ऐतिहासिक समीक्षा उन्होंने अपने ग्रन्थ 'प्राचीन भारतीय लिपिमाला' की पाद टिप्पणियों में की है जिसे देखकर दग रह जाना पड़ता है। वे संस्कृति को जीवन में आत्मसात् कर प्रकाशपुंज की तरह खड़े रहे। वे आज प्रकाशस्तम्भ बनकर साहित्येतिहासिक समुन्द्र के मझधार में भटके इतिहासकारों को नयी राह बता रहे हैं। उन्होंने अशोक की धर्मलिपियों का अध्ययन एवं सम्पादन किया। इस काम में उनके सहयोगी हिन्दी के समर्थ आलोचक बाबू श्यामसुन्दरदास थे। उन्होंने भारतवर्ष में प्रचलित लगभग 33 संवतों को ईस्वी सन् के परिप्रेक्ष्य में व्यवस्थित किया।

सत्य के अनुसंधान की उनकी सतत साधना को विभूषित करने के लिए 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' के ग्वालियर अधिवेशन में आपका अभिनंदन हुआ। यह आपका सतरवां जन्म दिवस था। इस अवसर पर 'भारतीय अनुशीलन ग्रन्थ' नामक ग्रन्थ में हिन्दी, मराठी, बंगला, गुजराती, उड़िया, असमिया, सिंहली, मलयालम, फारसी, अंग्रेजी, जर्मन, अमेरिकन, फ्रेंच, डोलडेज, स्वीडिश एवम् रूसी विद्वानों ने अपने महत्वपूर्ण लेख दिये। इस ग्रंथ के प्राक्कथन में रायबहादुर रावराजा श्यामबिहारी मिश्र तत्कालीन सभापति हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने इतनी भाषाओं के विद्वानों के लेखों को प्राप्त करना, ओझाजी के उत्कट पाण्डित्य, पुरातत्व ज्ञान एवं व्यक्तित्व का फल माना था।

1934 ई. में दिल्ली में सम्पन्न हिन्दी साहित्य सम्मेलन के तेईसवें अधिवेशन के अवसर पर यह ग्रंथ ओझाजी के कर कमलों में समर्पित था। हिन्दी साहित्य सम्मेलन एवम् अनुशीलन ग्रंथ के सम्पादक पं. काशीप्रसाद जायसवाल, दीवान बहादुर हरविलास शारदा, रायबहादुर हीरालालजी, सरदार माधव विनायक किबे, डा सुनीतिकुमार चटर्जी तथा प्रो. जयचंद्र विद्यालंकार थे। प्रो. जयचंद्र विद्यालंकार इसके प्रधान सम्पादक थे। ओझाजी ने भारतीय परिवेश

एवम् हिन्दी प्रेम के अनुरूप ही इस अनुशीलन ग्रंथ का विदेशी व हिन्दीतर भाषाओं के लेखों का एक नई समन्वय पद्धति से हिन्दी में ही सम्पादन हुआ। इस अनुशीलन ग्रंथ की वस्तुकथा का अन्तिम अनुच्छेद यहां अविकल रूप से दे रहा हूं क्योंकि इसका दृष्टिकोण हमारे आजके भाषायी विग्रह में हिन्दी की प्रतिष्ठा के लिए मार्ग दर्शक रहेगा।

'इस ग्रन्थ से एक नई पद्धति स्थापित हो रही है। विभिन्न भाषा भाषी भारतीय विद्वान अभी तक दूसरे की कृति अंगरेजी में पढ़ते हैं। परन्तु इस ग्रंथ से प्रकट होगा कि वे अपनी अपनी भाषा मे लिखे और उनके लेखो का केवल नागरी लिप्यन्तर कर दिया जाये तो थोड़े ही यत्न से वे एक दूसरे का अभिप्राय समझ सकते हैं। गत वर्ष के आरम्भ में जब हमने इस शैली का प्रस्ताव किया तभी बहुत से विद्वानों ने इसका स्वागत किया और अनेक ने स्वय अपने लेख नागरी में लिखकर भेजे। अनेक महाराष्ट्र, बंगाली और गुजराती विद्वानों ने हिन्दी मे ही अपने लेख दिये हैं। भारतीय विद्वानों में अपने विचारों के परस्पर आदान प्रदान की यह पद्धति क्रमशः पुष्ट होती जाय तो हमारा प्रयत्न सफल होगा। जिन ओझाजी ने आधुनिक हिन्दी में इतिहास ग्रंथ लिखने की शैली पहले पहल चलाई है, उन्ही के सम्मान में समर्पित इस ग्रंथ से नई पद्धति का सूत्रपात होना आशाप्रद और मंगलमूलक है।'

अन्तिम दिन

भारतीय अनुशीलन ग्रन्थ 'वस्तुकथा' जीवन के अन्तिम दिनों में ओझाजी इतिहास नहीं लिखना चाहते थे। अब उनकी इच्छा थी कि वे संस्कृत के एक सहस्त्र कवियों का एक एक उत्तम श्लोक पसन्द कर 'कवि कण्ठ सहस्त्री' नाम से एक ग्रन्थ का प्रणयन करें। उनके पुत्र प्रो. रामेश्वर ओझा के अनुसार उन्होंने इस क्रम में केवल 175 श्लोकों का संचयन भी कर दिया था पर वह कार्य अधूरा रहा। देशी विदेशी राज्यों की तरफ से उन्हें इतिहास लिखने के लिए बराबर निमंत्रित किया जा रहा था। जीवनपर्यन्त अपने मौलिक इतिहास लेखन में प्रवृत्त होने के कारण उन्हें प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन करना पड़ा था। उस अध्ययन के दौरान उन्होने उन ग्रन्थों का इतिहास तत्व हृदयङ्गम किया था पर अब वे साहित्य रस का आस्वादन करना चाहते थे।

जीवन भर इतिहास लिखने के पश्चात् भी उनकी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ ि हो पाई थी एवं वे अब देशी रियासतों के इतिहास के झमेले में नही पड़ना

'शोध का अन्त नहीं है। ज्यों ज्यों शोध होगी त्यों त्यों नवीन मेटर मिलता ही रहेगा। इसके इन्तजार में इतिहास को अंधेरे में पड़ा रखना समय को बरबाद करना है।'

'आप स्वयं जानते हैं कि इतिहास का कार्य साधारण कार्य नहीं है। उसमें काफी अध्ययन करना पड़ता है, साथ ही मस्तिष्क शक्ति का भी उपयोग करना पड़ता है। इसके उपरान्त ही इतिहास का लेखन कार्य चलता है। और मननशील व्यक्ति को पग पग पर अपने विचार बदलने पड़ते हैं, जहां पर कि जटिल समस्याएं होती हैं। किसी राज्य का इतिहास लिखने में नरेश और उसके कृपापात्रों के हितों का भी ध्यान रखना पड़ता है, नहीं तो उनका सारा परिश्रम निष्फल हो जाता है।'

'वास्तव में इतने सारे देशी रियासतों के इतिहास लिखने पर उन्हें कुछ नहीं मिला। सिरोही राज्य का इतिहास लिखने पर उन्हे भूतपूर्व सिरोही नरेश ने मात्र एक घरट भेंट किया था। वे पूर्ण स्वाभिमानी थे। अपने सहायक नाथूलाल व्यास को नृसिंहगढ़ स्टेट ने बुलाया था पर स्टेट द्वारा उन्हें सम्मानित नहीं कर राज्याधिकारियों द्वारा उन्हे कुछ भेंट दिलाई गई थी इस पर उन्होने नाराजगी प्रकट की थी– 'वह (नाथूलाल व्यास) रियासत के कार्य के लिए आया था। उसका यदि सम्मान किया जाता तो वह राज्य की तरफ से होता जिसमें राज्य की शोभा बढ़ती। इस तरह राज्य अफसरों आदि से याचना कर उसको भीख के रूप में पुरस्कृत करना मैं तो निन्दनीय बात समझता हूँ।'

अपने जाति बन्धु होने के कारण उनका सिरोही राज्य प्रजामण्डल

भी अपना प्रभाव बतला रहो है, इसीलिये मातृभाषा हिन्दी की मैं विशेष सेवा नही कर सका।

उनके कृतित्व का विवरण इस प्रकार है —

1. प्राचीन लिपिमाला प्रथम लघु संस्करण—1894
2. कर्नल टाड की जीवनी—1894
3. सोलंकियों का इतिहास—1907
4. सिरोही का इतिहास—1911
5. प्राचीन लिपिमाला वृहद संस्करण—1918
6. राजपूताने का इतिहास प्रथम जिल्द—1924
7. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति (600-1200) ई. हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद—1928
8. उदयपुर राज्य का इतिहास प्रथम जिल्द—1928
9. उदयपुर राज्य का इतिहास द्वितीय जिल्द—1931
10. राजपूताने का इतिहास द्वितीय जिल्द—1931
11. राजपूताने का इतिहास डूंगरपुर तृतीय जिल्द भाग प्रथम—1936
12. राजपूताने का इतिहास बांसवाड़ा तृतीय जिल्द भाग दो—1937
13. राजपूताने का इतिहास प्रतापगढ़ तृतीय जिल्द भाग तीन—1940
14. राजपूताने का इतिहास जोधपुर चतुर्थ जिल्द भाग प्रथम—1938
15. राजपूताने का इतिहास जोधपुर चतुर्थ जिल्द भाग दो—1941
16. राजपूताने का इतिहास बीकानेर पंचम जिल्द भाग एक—1939
17. राजपूताने का इतिहास बीकानेर पंचम जिल्द भाग दो—1940

ओझाजी द्वारा सम्पादित एवं अनुदित कृतियां निम्न थी :—

1. टाडकृत राजस्थान
2. मुहणोत नैणसी री ख्यात
3. नागरी प्रचारिणी पत्रिका
4. कल्हण कृत राजतरंगिणी–1920 से 1933 तक
5. द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ
6. सुलेमान सौदागर
7. प्राचीन मुद्रा

सहलेखन

1. *'ऐतिहासिक दन्त कथाओं का संकलन'*, जोधसिंह मेहता के साथ

2. अशोक की धर्मलिपियां—बाबू श्यामसुन्दरदास के साथ कुछ प्रख्यात लेखकों और विद्वानों के आग्रह पर इन्होंने उनके कार्यों में भी सहयोग दिया।

1. सर जार्ज ए. ग्रियर्सन की पुस्तक लिंग्वेस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया के लिए सिरोही और उदयपुर राज्य (जिलों) की बोलियों का सर्वेक्षण।

2. *प्रख्यात विद्वान सुनीतीकुमार चटर्जी के विशेष आग्रह पर राजस्थानी भाषा के सर्वेक्षण में उन्हें सहयोग प्रदान किया जो चटर्जी की पुस्तक 'भारतीय भाषाओं का विवेचनात्मक अध्ययन' के लिए था।*

3. अर्सकिन के राजस्थान गजेटियर के लिए अर्सकिन के आग्रह पर सिरोही और मेवाड़ (वर्तमान उदयपुर) की जनजातियों का सर्वेक्षण किया।

अन्य उपलब्ध जानकारियों और समकालीन देशी और विदेशी विद्वानों, लेखकों के पत्रों से यह आभास मिलता है कि वे अपने कार्यों और समस्याओं के निराकरण में ओझाजी के सहयोग के लिए लालायित रहते थे।

कुछ अन्य साहित्यिक ग्रंथों का भी उन्होंने सम्पादन किया था जिनमें निम्न प्रमुख हैं :—

1. केशोत्सव स्मारक संग्रह
2. जयानक कृत पृथ्वीराज विजय महाकाव्य (संस्कृत से)
3. गद्य रत्नमाला
4. पद्य रत्नमाला

गद्य रत्नमाला और पद्य रत्नमाला तो अजमेर बोर्ड के हाईस्कूल हिन्दी ऐच्छिक के पाठ्यक्रम में 1942–43 तक रही।

यह है ओझाजी के विराट कृतित्व की झांकी। इसके अतिरिक्त इन्होंने अपने समय की प्रसिद्ध हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में नियमित रूप से लिखा। उनमें भारतेन्दु, बालक, सुधा, मनोरमा, त्यागभूमि आदि प्रसिद्ध पत्रिकाएं थीं। उन्होंने नागरी प्रचारिणी पत्रिका में भी अपने निबन्ध लिखे एवं स्वयं 13 वर्ष तक उसका सम्पादन भी किया। उनके इन साहित्यिक एवं ऐतिहासिक निबन्धों के

अतिरिक्त उन्होंने विभिन्न ऐतिहासिक आंदोलनों तथा हिन्दी गुजराती के साहित्य सम्मेलनों के अवसर पर जो अध्यक्षीय भाषण दिये वे उनकी विद्वता के परिचायक है। इनके इस रचनाकर्म का प्रसंग में विवेचन प्रस्तुत होगा।

ओझाजी ने प्रत्यक्ष रूप से गवेषणात्मक लेखन किया लेकिन अंग्रेजी के युग में हिन्दी में लेखनकार्य करना इस समय हिन्दी साहित्य की वृद्धि और प्रोत्साहन के लिए महत्त्वपूर्ण था। हिन्दी में इतिहास एवं अनुसंधानपरक लेखन ही हिन्दी साहित्य को उनकी अमूल्य देन है। इस सम्बन्ध में डा. दशरथ शर्मा का वक्तव्य द्रष्टव्य है—

'जब विद्वानों के क्षेत्र में हिन्दी साहित्य की इस समय में कहीं कम पूछ थी, ओझाजी ने अपने ग्रंथों को हिन्दी में लिखने का निश्चय कर, अपनी दूरदर्शिता और देशभक्ति का परिचय दिया था। हिन्दी साहित्य के अनेक अंगों की श्रीवृद्धि इस महान् निश्चय का आनुषंगिक फल है।'

इनकी भाषा शैली भी जन प्रिय और जन सामान्य की थी। भाषा को क्लिष्ट बनाने में उनका कतई विश्वास नहीं था। वे साहित्यिक और जनभाषा के अन्तर को समझते थे। डॉ. दशरथ शर्मा ने इनकी भाषा शैली पर विचार व्यक्त करते हुए लिखा है-'इनकी विचार विमर्शमयी शैली हिन्दी के लिए किसी समय नयी वस्तु थी। कई पुरानी स्थापनाओं का ओझाजी ने खण्डन किया किन्तु इनकी भाषा में न कभी अशिष्टता आई और न इन्होंने पूर्वपक्ष को विपरीत रूप देने का प्रयत्न किया। जिस रूप में भी निबन्ध हमारे सामने हैं, वह ऐतिह्य के विमर्श और हिन्दी की शुद्ध मण्डनात्मक शैली का अच्छा नमूना है। ओझाजी के विराट कृतित्व एवं उनकी साहित्य सेवा को देशी एवं विदेशी विद्वानों ने सदैव सराहा था। उनकी दीर्घ साहित्य सेवा की स्वीकृति के लिए एवं एक मनीषी के सम्मान के लिए १९३३ ई. में हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ने भारतीय अनुशीलन ग्रंथ का प्रकाशन उनके अभिनंदनार्थ किया था।

उसके प्राक्कथन में तत्कालीन सभापति रायबहादुर श्यामविहारी मिश्र ने जो कुछ लिखा है वह उनके कृतित्व के सम्मान की झलक देता है—

'यह ओझा अभिनन्दन ग्रन्थ सर्वसाधारण, विशेषत: हिन्दी मर्मज्ञ जनता के सम्मुख उपस्थित करने में मुझे वर्णनातीत हर्ष हो रहा है। मेरे प्राचीन एवं प्रतिष्ठित मित्र महामहोपाध्याय रायबहादुर पण्डित गौरीशंकर हीराचंद जी ओझा ने हिन्दी एवं विद्वता की जो कुछ प्रकाण्ड सेवा की है वह केवल हिन्दी संसार ही क्यों वरन् भारतीय एवं योरोपीय विद्वन्मण्डली को भी भलीभांति विदित है।

उसका बहुत कुछ परिचय इस ग्रन्थ रत्न के अवलोकन से सूक्ष्म रीत्या मिल जाएगा और यह भी प्रकट होगा कि विद्वानों में ओझाजी का कैसा मान है। मेरे सभापतित्व में दिसम्बर 1932 ई. में जो अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन की बैठक ग्वालियर में हुई, उस अवसर पर यह प्रस्ताव पास हुआ कि ओझाजी की आयु के 70 वे वर्ष की पूर्ति के उपलक्ष्य में सम्मेलन के अगले अधिवेशन पर उन्हें भारतीय और विदेशी विद्वानों के सहयोग से एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जाए।

मैं समझता हूं कि मित्रवर ओझाजी के उत्कट पाण्डित्य, पुरातत्व ज्ञान एवं व्यक्तित्व का ही यह फल है कि हिन्दी, बंगला, मराठी, गुजराती, उड़िया, असमिया, सिंहली, मलयालम, फारसी, अंग्रेजी, जर्मन, अमेरिकन, ओलंदेज, फ्रेंच, स्वीड तथा रूसी विद्वानों ने ऐसे उत्कृष्ट लेख देकर इस ग्रन्थ रत्न की शोभा बढ़ाई है।'

इतिहास का कीर्तिस्तम्भ

इनके द्वारा रचित 'प्राचीन लिपिमाला' अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का प्रामाणिक ग्रन्थ है और इसका हिन्दी भाषा में होना ही हिन्दी भाषा के साहित्य के लिए गौरव का विषय है। वर्तमान में भारत सरकार द्वारा संविधान के माध्यम से हिन्दी को राष्ट्रभाषा का दर्जा दिये जाने के बावजूद भी इतिहास लेखक एवं ग्रन्थ लेखकों को अंग्रेजी का मोह कम नहीं हुआ है और ओझाजी में आज से 100 वर्ष पूर्व हिन्दी लेखन की जिस नवीन परम्परा की शुरुआत करने का साहस था वह हिन्दी भाषा –साहित्य के विकास के लिए, अमूल्य है। प्राचीन लिपिमाला का प्रथम लघु संस्करण 1894 ई. में प्रकाशित हुआ था। स्वयं ओझा के अनुसार वह हिन्दी ही नहीं अपितु किसी भी भारतीय भाषा में किया गया अपने प्रकार का अनूठा प्रयास था।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन के बाद ही भारतीय विश्वविद्यालयों में एम. ए. के अध्ययन में लिपिशास्त्र का समावेश किया गया। लिपिमाला का प्रथम संस्करण इतना लोकप्रिय हुआ कि प्रकाशन के तुरन्त बाद ही यह बाजार में अनुपलब्ध हो गया और विद्वानों के आग्रह पर उन्होंने दूसरा वृहद और संशोधित संस्करण 1918 ई. में प्रकाशित किया। प्राचीन लिपिमाला नामक यह पुस्तक ओझाजी की बहुज्ञता, विद्वता और हिन्दी प्रेम का कीर्तिस्तम्भ है। यह संसार का अपने विषय का पूर्ण प्रामाणिक प्रथम ग्रन्थ था। देशी–विदेशी और उस समय दीतर भाषाभाषी विद्वानों को प्राचीन लिपियों एवं शिलालेखों के अध्ययन

का अवसर उपलब्ध करवाने वाला यही एकमात्र ग्रन्थ था और आज आधुनिक काल में भी यह अपने विषय का अद्वितीय ग्रन्थ है। अपने प्राचीन लिपिमाला के वृहत सस्करण की भूमिका में ओझाजी ने लिखा है :—

'ई. स. 1893 तक कोई ऐसा पुस्तक नही बना था कि केवल उस एक ही पुस्तक की सहायता से हिमालय से कन्याकुमारी तक और द्वारिके से उडीसे तक की समस्त लिपियों का पढना कोई भी विद्वान आसानी से सीख सके। इस अभाव को मिटाने के लिए मैंने ई. स. 1894 मे प्राचीन लिपिमाला नामक छोटा सा पुस्तक प्रकट किया जिसको यहां के और यूरोप के विद्वानो ने उपयोगी बतलाया। इतना ही नहीं किन्तु उसको इस विषय का प्रथम पुस्तक प्रकट कर उसका आदर किया।'

इस वृहत ग्रंथ मे भारतवर्ष मे लिखने के प्रचार की प्राचीनता, ब्राह्मी, खरोष्ठी, गुप्त, कुटिल, नागरी, शारदा, बगलापश्चिमी, मध्यप्रदेशीय, तेलगु, कन्नडी, ग्रथ, कलिंग, तामिल आदि विभिन्न लिपियो एवं उनके अंकों के विकास क्रम आदि का वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। प्राचीन शिलालेखों तथा प्राचीन पाण्डुलिपियों को पढने एवं समझने की विशेष सामग्री इस ग्रन्थ में संग्रहीत है।

भारतवर्ष की वर्तमान लिपियो की उत्पत्ति, उनके विकास तथा लेखन सामग्री के इतिहास के विषय मे भी काफी सामग्री इस ग्रंथ में उपलब्ध है। आज हम केवल शक विक्रम या ईस्वी सन् को ही जानते हैं पर ओझाजी ने ऐतिहासिक काल गणना को महत्व देते हुए भारतवर्ष मे प्रचलित अनेक सवत् सवत्सरो का परिचय एवं विवेचन किया है। इस क्रम में उन्होने सप्तर्षि, कलियुग, वीरनिर्वाण, बुद्धनिर्वाण, मौर्य, सेल्युकिडि, विक्रम, शक, कलचुरी, गुप्त वलभी, गागेय, हर्ष, भट्टिक, कोल्लम्, नेवार (नेपाल), चालुक्य विक्रम, सिंह, लक्ष्मणसेन, राज्याभिषेक, हिजरी आदि अनेक संवत् एव तदनुसार कालगणना का विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया है। इन सब संवतो का सौर वर्ष एव चान्द्र वर्ष से सम्बन्ध स्थापित कर बारह बारह वर्षो के तथा साठ साठ वर्षो की गणना वाले बार्हस्पत्य सवत्सरो का भी अध्ययन प्रस्तुत किया है। लिपि, अंक एव काल गणना इतिहास के तिथि क्रम की मूल आवश्यकता होती है। इन सबका लिपि पत्रो के माध्यम से निदर्शन भी इस ग्रन्थ में हुआ है।

इस ग्रन्थ को भारतीय लिपिशास्त्र का विश्व कोष कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। स्वय ओझाजी ने इस ग्रथ की भूमिका में लिखा है —

'इस बड़े ग्रंथ को देख कर कोई विद्वान् यह शंका न करे कि इतनी बहुत लि
का ज्ञान सम्पादन कर भारत के प्राचीन लेखों को पढ़ना बहुत ही कठिन है व
वास्तव में यह बात नहीं है। केवल एक प्रारम्भ की ब्राह्मी लिपि को समझ
आगे के लिए मार्ग बहुत ही सुगम हो जाता है। जिसका कारण यही है कि
आगे की लिपियों में बहुत ही थोड़ा थोड़ा अन्तर पड़ता जाता है। जिससे उ
सीखने में अधिक श्रम नहीं पड़ता।'

इस ग्रंथ की पाद टिप्पणियों में परिलक्षित संकेतों से ओझाजी के संस्
व्याकरण, षड्दर्शन तथा ज्योतिष के ज्ञान का सहज ही अनुमान हो जाता है।
उनका हिन्दी प्रेम भी इस ग्रंथ की भूमिका से उजागर हुआ है। 'हिन्दी साहि
में अब तक प्राचीन शोध सम्बन्धी साहित्य का अभाव सा ही है। यदि इ
पुस्तक से उक्त अभाव के अणुमात्र अंश की भी पूर्ति हुई तो मुझ जैसे हिन्दी
तुच्छ सेवक के लिए विशेष आनन्द की बात होगी।'

ओझाजी कर्नल टॉड से बहुत अधिक प्रभावित थे और होते भी क्यों नहीं
कर्नल टॉड ही प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने राजपूताने के इतिहास की कड़ियों को
जोड़कर उसकी गौरव गाथा को सर्वप्रथम अंकित किया और यह ओझाजी के
लिए प्रेरणा का स्रोत बना। वे राजपूताने के इतिहास और संस्कृति को पुरस्क
कार देने में समर्थ बने। भारत प्रेमी इस पाश्चात्य विद्वान कर्नल टॉड ने 'पश्चिमी
भारत की यात्रा' । (ट्रेवल्स इन वेस्टर्न इण्डिया) जैसी अमूल्य पुस्तक लिखी
थी। उन्हें उचित सम्मान देने के लिए उन्होंने स्वयं टॉड की जीवन-कथा लिखी
और उसे प्रकाशित करवाया।

ओझाजी द्वारा लिखित टाड की जीवनी ने हिन्दी साहित्य की जीवनी-
लेखन-विधा को नयी दिशा प्रदान की। इस काल में सम्भवत: किसी इतिहास
की यह प्रथम जीवनी थी। इस देश में प्राचीन काल से ही राजवंशों एवं सम्रा
की जीवनी लिखने की परम्परा ही विद्यमान थी। ओझाजी कृत टॉड की जीव
लीक से हटकर एक नया दिशा- निर्देश का कार्य था। इसके साथ ही इस जीव
के माध्यम से जन सामान्य में स्थानीय इतिहास, संस्कृति और पुरातत्व के प्रति
जन चेतना जगाने का जन भाषा हिन्दी में किया यह कार्य हिन्दी भाषा के
विविध विधाओं के साहित्य के विकास में महत्वपूर्ण है।

इतिहास बोध

ओझाजी का इतिहासज्ञ के रूप में पर्याप्त सम्मान था और इस सम्मान

का कारण उनका इतिहास बोध और इतिहास लेखन का नवीन दृष्टिकोण था। मूल स्रोतों पर आधारित लेखन तथा अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दी भाषा का प्रयोग उनके विशिष्ट इतिहासकार के रूप मे देश विदेश में ख्याति का कारण था। हिन्दी वालों ने उन्हें अपना समझकर सम्मान किया तो विदेशियो ने उनके मूल स्रोतो के विशिष्ट अध्ययन को सराहा।

हमारे इतिहासकार परम्परागत इतिहास लेखन मे फारसी स्रोतो को आधारभूत सामग्री मानते थे परन्तु तथ्यान्वेषी ओझाजी ने सर्वप्रथम भारतीय और स्थानीय इतिहास स्रोतों का सहारा लिया। उनके इस नवीन दृष्टिकोण का परिचय हमे सर्वप्रथम उनके द्वारा रचित 'सोलकियो के इतिहास' मे मिलता है। इस ग्रंथ को तैयार करते समय स्थानीय सिक्को, शिलालेखो और बहियो, लोक गीतों, कहावतो का समुचित प्रयोग करते हुए फारसी स्रोतो को नवीन सन्दर्भ में देखा और उनके उपयोग मे हिन्दी साहित्य की समालोचनात्मक पद्धति का प्रयोग कर इतिहास लेखन की वैज्ञानिक परम्परा की शुरूआत की।

राजपूताने का इतिहास वास्तव में उनके इतिहास प्रेम का परिणाम ही था। इस क्रम मे उन्होने सिरोही राज्य का इतिहास' सर्वप्रथम लिखा। उसके पश्चात् देशी राज्यो के इतिहास की श्रृंखला समाज के सामने प्रस्तुत कर दी। इनका मानना था कि इतिहास 'गीतड़ो या भीतडो' मे ही रहता है। 1924 से 1940 तक राजपूताने की रियासतो के इतिहास की जिल्दे प्रकाशित होती रही हैं। इनमे उदयपुर, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, प्रतापगढ़, जोधपुर और बीकानेर रियासतो के इतिहास हैं। इस लेखन मे प्रथम बार स्थानीय ख्यातों, पट्टों, परवानों, शिलालेखो, सिक्कों, लोकगीतो एव कहावतों का उपयोग किया गया था। उस समय इतिहास के अभाव मे राजपूताने की देशी रियासतें अपने गौरव-पूर्ण अतीत से परिचित नही थी एव सास्कृतिक पुनर्जागरण के प्रकाश मे वे अपने स्वर्णिम वैभव के दर्शन करना चाहती थी। ओझाजी ने इतिहास के प्रकाश मे उन्हे अपना विगत वैभव दिखाया एव वर्तमान को सवारने की दिशा-दृष्टि प्रदान की।

इतिहास ज्ञान की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने लिखा— 'समस्त सभ्य तथा उन्नतिशील जातियो मे इतिहास विद्या का बड़ा गौरव माना जाता है क्योंकि प्रत्येक देश या जाति की उन्नति किन कारणों से हुई यह जानने का एकमात्र साधन ऐतिहासिक पुस्तक ही है। प्रत्येक जाति के अस्तित्व और उन्नति के लिए इतिहास की परम आवश्यकता रहती है।' इससे स्पष्ट है कि

उनका लेखन एक विशिष्ट उद्देश्य से प्रेरित था। उन्होंने इतिहास लेखन को आजीविका का साधन मात्र नहीं माना बल्कि उसे एक आन्दोलन के रूप में स्वीकार किया। यह आन्दोलन भी शुद्ध स्वदेशी था, राष्ट्रीय गौरव और भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धार का था जिससे हिन्दी का द्विवेदी युग अनुप्राणित था।

ओझाजी ने इतिहासज्ञ कर्नल टॉड की ऐतिहासिक भूलों का परिमार्जन ही नहीं किया बल्कि आवश्यकतानुसार नये सिद्धान्त का प्रतिपादन भी किया क्योंकि टाड का लेखन विदेशी व फारसी स्रोतों पर आधारित था। इस विषय में उन्होंने लिखा है –

'जिन थोड़ी सी फारसी पुस्तकों के अंग्रेजी अनुवाद छप चुके थे उन्हीं पर प्रायः उक्त महानुभाव को निर्भर रहना पड़ा क्योंकि राजपूताने में उस समय शोध का श्रीगणेश भी नहीं हुआ था।' (डूंगरपुर राज्य का इतिहास, भूमिका पृष्ठ–2)

टॉड और स्मिथ द्वारा राजपूतों को विदेशी सिथियन व शकों की सन्तान बताया गया था लेकिन इन्होंने इसका खण्डन किया और राजपूतों को भारतीय मूल का ही सिद्ध किया। इसी प्रकार टॉड ने गुहिल को फारस के नौशेरवान का वंशज बताया था लेकिन ओझाजी ने सप्रमाण उसे कुश वंश का सिद्ध किया।

इतना ही नहीं टॉड ने राजपूतानों की जो अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा की थी, उसके स्थान पर इन्होंने राजपूतों की कमियों पर भी लिखा। अपने उदयपुर के इतिहास मे राजपूतों के मुसलमानो, मराठों व अंग्रेजों के साथ सम्बन्धों की समीक्षा करते हुए उन्होंने राजपूतों की असफलता के कारणों की समीक्षा की है एवं उनमे प्रकाशित बुराइयो को उनके वीरत्व पर लांछन जैसे बताया है। मादक द्रव्यों का सेवन, अशिक्षा, बहुविवाह और आत्मकेन्द्रित चरित्र के कारण ही राजपूत संगठित नहीं हो सके एवं आततायियों का प्रतिरोध नहीं कर सके। इन्होंने ही सर्वप्रथम मराठों को राजपूताने की सम्पन्नता को नष्ट करने वाला बताया और शिवाजी की ऐतिहासिक भूलों के लिए उनकी आलोचना भी की।

इतिहास जीवन व जाग्रति के लिए

ओझाजी अपने राजपूताने के इतिहास में तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक परिवेश के इतिहास का उल्लेख प्रसंगोपात्त नहीं कर पाये और इस दृष्टिकोण से उनका लेखन इतिहास के केवल एक पक्ष को ही अधिक उजागर करता है।

उनका रियासतों का इतिहास अतीत की थोड़ी सी झांकी दिखाकर राजवंशों के इर्दगिर्द ही घूमता है और यह उनकी विवशता भी थी क्योंकि अपने लेखन को प्रकाशित करने और आवश्यक साधनों की उपलब्धता के लिए वे उन पर निर्भर थे, फिर भी उन्होंने अपने इतिहास लेखन के माध्यम से तत्कालीन राजाओं को अपने ही दर्पण में स्वयं की तस्वीर दिखायी थी एवं उनके गुण अवगुणों का विवेचन कर साहित्य संस्कृति एवं समाज की प्रसंगोपात चर्चा भी की थी। यह एक सुखद बात रही कि जहां ओझाजी ने अपना ऐतिहासिक चिन्तन छोड़ा वहीं से इतिहास के आधुनिक अनुसंधान और सामाजिक दृष्टिकोण की परम्परा प्रारम्भ होती है। इस सम्बन्ध में डा. रघुबीरसिंह ने लिखा है–

'अपने उद्देश्य में ओझाजी को पर्याप्त सफलता मिली और यों तत्कालीन इतिहास विषय, मानवीय ज्ञान की सीमाओं के परिवर्तन के साथ ही राजस्थान के भावी इतिहासकारों का भी उन्होंने अत्यावश्यक मार्गदर्शन किया।'

(ओझा निबन्ध संग्रह, तृतीय भाग, प्रस्तावना)

इस तथ्य का आभास स्वयं उनके लेखन में भी मिलता है। बीकानेर राज्य के इतिहास के द्वितीय खण्ड की भूमिका में वे लिखते हैं –'यह सर्वांगपूर्ण है, इसका दावा तो मैं नहीं कर सकता, पर इसमें आधुनिक शोध को यथासम्भव स्थान देने का प्रयत्न किया गया है। शोध का अन्त हो गया, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अभी बहुत कुछ करना बाकी है। ऐसी दशा में भी मुझे विश्वास है कि मेरा यह इतिहास भावी इतिहास लेखकों के पथ–प्रदर्शन में अवश्य सहायता पहुंचायेगा। त्रुटियां रहना सम्भव है, क्योंकि भूल मनुष्यमात्र से होती है। और मैं उसका अपवाद नहीं हूं।'

ओझाजी को अपने लेखन की कमियों का आभास था और इसका प्रमाण इस महामना की उपरोक्त स्वीकारोक्ति है जो लेखकीय विनम्रता का उदाहरण भी है। वे स्वयं दरबारी इतिहासकार तो नहीं थे पर दरबारी संस्कृति उनके इतिहास लेखन में अवश्य हावी रही। जीवन के अन्तिम दिनों में उन्होंने इस बात को स्वीकार भी किया था कि इतिहास लेखन में नरेशों एवं उनके कृपापात्रों के हितों का ध्यान रखना पड़ता है। यह बात पहले भी उनके मन में रही होगी तभी दरबारी फारसी इतिहासकारों के लेखन को उन्होंने बिना जांचे परखे स्वीकार नहीं किया। उन्होंने सतर्क लिखा है कि फारसी इतिहासकारों की अपनी सीमाएं थी एवं दरबारी होने के कारण वे राज्य की नीतियों एवं सुलतानों के विरुद्ध नहीं लिख सकते थे। फारसी इतिहासकारों के लेखन को उन्होंने

[illegible] नहीं मानकर उसे महत्वपूर्ण सामग्री माना। उनके फारसी ग्रंथों के उपयोग और उनकी सीमा का आकलन करते हुए डा. रघुवीरसिंह ने लिखा है –

'वे स्वयं फारसी भाषा के विद्वान नहीं थे एवं फारसी भाषा में लिखित प्राप्य ऐतिहासिक ग्रन्थों का वे पूरा-पूरा उपयोग नहीं कर सके, किन्तु इस ऐतिहासिक सामग्री के महत्व को वे समझते थे और यथासम्भव उसका उपयोग करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे।'

(ओझा निबन्ध संग्रह, तृतीयभाग, प्रस्तावना)

अपने इतिहास लेखन में उन्होने मुसलमानों एवं राजपूतों के विषय में उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री का गहरा अन्वेषण किया और उसका विवेचनात्मक निर्णय देने का प्रयत्न किया।

वे इतिहास को आम आदमी के लिए मानते थे इसलिए टॉड की अंग्रेजी में लिखी ऐतिहासिक रचना को हिन्दी मे रूपान्तरित किया एवं विद्वत्तापूर्ण सम्पादन किया। इसी भावना से संस्कृत के इतिहास ग्रन्थ कल्हण की राजतरंगिणी का भी उन्होने जनभाषा हिंदी मे अनुवाद सम्पादन किया। अपने तर्कों एवं सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए वे हमेशा आधारभूत सामग्री की तलाश मे रहते थे। इसलिए पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता की चर्चा के दौरान उन्होंने संस्कृत कवि जयानक के 'पृथ्वीराज विजय' का हिन्दी अनुवाद एवं सम्पादन किया।

ओझाजी लेखन की प्रथम शर्त पूर्वाग्रहों से मुक्ति को मानते थे। पूर्वाग्रहों से युक्त लेखन को वे प्रामाणिक नही मानते थे। उन्होने स्वयं लिखा है 'केवल आदर्शवाद के सिद्धान्तों पर निर्भर रहकर अतिशयोक्ति और जातीय पक्षपातपूर्ण बातो पर विश्वास न करें। खोज से जो नवीन मतों का निर्देश करते हुए उचित एवं युक्ति संगत पक्ष को ग्रहणकर उन्हे अपना मत प्रकाशित करना चाहिये। मैंने भी अपने इतिहास में इस नीति का आलम्बन किया है। (डूंगरपुर राज्य का इतिहास, भूमिका, पृष्ठ 10) स्पष्ट है एक लेखक, भाषाविद् और इतिहासकार की सम्मिलित जिम्मेदारी का आभास उन्हें था और उस जिम्मेदारी को उन्होंने पूरा निभाया।

मध्यकालीन भारतीय संस्कृति पर दिये गये उनके व्याख्यान, अशोक की धर्म लिपियों का सम्पादन उनके चिन्तन युक्त मौलिक इतिहास बोध के प्रमाण

है। वे लेखन में 'ट्रीटमेन्ट ग्राफ फैक्ट्स' और सोर्स मटेरियल पर अधिक विश्वास करते थे। आधुनिक युग में विद्वानों ने लोकसाहित्य के महत्व एवं इतिहास की वाचिक परम्परा को समझा है और लोकसाहित्य, लोकगीत, कहावतों, किवदन्तियों के सन्दर्भों की कसौटी पर इतिहास को रखकर इतिहास लेखन और अनुसन्धान की नई पद्धति अपनायी है लेकिन ओझाजी इस बात में भी अग्रणी थे। उन्होंने ही इतिहास और भाषायी लेखन मे दन्तकथाओं एवम् अन्य लोक साहित्य के उपयोग की शुरूआत की।

उन्होंने स्वयं दन्तकथाओ का संकलन भी जोधसिंह मेहता के साथ किया था। समृद्ध लोक संस्कृति और लोक साहित्य का इतिहास लेखन मे ऐसा समुचित समावेश निश्चय ही भारतीय इतिहास लेखन की परम्परा मे विरल है। साहित्यिक समालोचना और ऐतिहासिक अनुसन्धान के विषय मे उनका मत था कि 'अंग्रेजी मे लिखे गये भारत विषयक लेखो एवम् ग्रन्थो के अनुवाद तथा उनकी बातों के उदाहरण दे देकर समालोचना करने से न तो हिन्दी का गौरव बढ़ेगा एवं न भारतीय इतिहास का भला होगा'। अत इन दोनों क्षेत्रो मे ओझाजी मौलिक चिन्तन को महत्व देते थे। उनका यह दृष्टिकोण हिन्दी लेखकों के लिए मनन योग्य है।

भारतीय और विशेषकर हिन्दी साहित्य मे पाश्चात्य साहित्य और विद्वानों का उल्लेख करने मे गौरव का अनुभव करना और इस दृष्टिकोण से साहित्यिक गुटबंदी के आधार पर लेखन कर्म करने वाले के लिए चिन्तनीय बिन्दु है। साथ ही समालोचना तथा अनुसन्धान विषयक स्वस्थ दृष्टिकोण का प्रतिपादन करता है एवं भविष्य की अनुसधान प्रणालियों तथा समालोचना के लिए मार्ग प्रशस्त करता है।

सन् 1903 से 1942 तक 39 वर्ष लगातार यह इतिहास पुरुष हिन्दुस्तान और हिन्दी पर छाया रहा। उनका विशाद स्तर पर लेखन आधुनिक लेखकों, विद्वानो और सुरुचिपूर्ण अध्ययनशील जनसामान्य को चकित तो करता ही है पर यह सोचने पर भी विवश करता है कि एक व्यक्ति अपने छोटे से जीवनकाल में निष्ठा, लगन और दृढ़ इच्छाशक्ति के बल पर
योग कर उसका लाभ युग-युगीन मनुष्य ...
भी अब हिन्दी भा...
लो। ...

जिनमें अंग्रेजी जर्मन तथा फ्रेंच भाषी व अन्य विदेशी विद्वान भी सम्मिलित हैं, को इन हिन्दी भाषा में लिखे ग्रन्थों का सहारा लेना पड़ता है।

निश्चय ही हिन्दी को अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का दर्जा दिलवाने के आन्दोलन में ओझाजी के योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता। राष्ट्रभाषा हिन्दी के युग में भी हम हिन्दी के लिए अंग्रेजी में कहते हैं, अंग्रेजी के युग में ओझाजी का भारत की जनभाषा हिन्दी का प्रयोग, हिन्दी के अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन का आधार स्तम्भ है। आज आवश्यकता है उनकी हिन्दी सेवा के मूल्य की हिन्दीभाषी विद्वानों द्वारा समुचित सम्मान एवं मूल्यांकन की लेकिन यह खेद का विषय है कि हमने ओझाजी को केवल एक इतिहासकार के रूप में ही स्वीकार किया है। राजस्थान साहित्य अकादमी की इस ओर यह पहल निश्चय ही ओझाजी की हिन्दी सेवा के मूल्यांकन और उन्हें उचित सम्मान दिलवाने की दिशा में ऐतिहासिक कदम साबित होगा।

साहित्यिक एवं ऐतिहासिक निबन्ध

ओझाजी अपने काल में साहित्यिक और ऐतिहासिक निबन्ध लेखक के रूप मे प्रतिष्ठापित हो चुके थे। एवं उनके लेखों में विद्वतापूर्ण विवेचन होता था क्योंकि प्रत्येक निबन्ध में एक स्वतंत्र इतिहासपरक विवेचन होता था भले ही वे किसी साहित्यिक विषय में लिख रहे हों। इस क्रम में उन्होंने कई छोटे-छोटे निबन्ध लिखे थे जो इतिहास की छोटी छोटी गुत्थियों को सुलझाने के लिए होते थे। उनके द्वारा लिखित निबंधों में उनकी सारान्वेषिणी दृष्टि का परिचय मिलता है। उनके समस्त उपलब्ध निबन्धों को साहित्य संस्थान, राजस्थान विद्यापीठ ने ओझा निबंध संग्रह शीर्षक से तीन भागों में प्रकाशित किया है। इन निबंधों के विषय मे प. जनार्दनराय नागर ने लिखा है—

यह 'ओझा निबंध संग्रह' प्रमाणित कर देगा कि ओझाजी ने भारतीय इतिहास की प्राचीन पगडण्डियों, खण्डहरों, ताम्रपत्रों और अनेक विवादास्पद इतिहास प्रसंगों एवं व्यक्तियों को अछूता नही छोड़ा है, परोक्षत: ओझा ने भार-तीय प्राचीन एवं मध्यकालीन इतिहास की कई मार्ग दिशाएं खोली हैं, तथा कई प्रश्नों का उत्तर दिया है।

(प्राक्कथन, ओझा निबंध संग्रह, द्वितीय भाग)

ओझा निबंध संग्रह के प्रकाशन में राजस्थान सरकार के शिक्षा विभाग पूरा सहयोग प्रदान किया था एवं इसके तीनों भागों का सम्पादन करने में स्व ओझाजी के सहायक नाथूराम व्यास, उनके शिष्य डा. दशरथ शर्मा एवं उन सहयोगी डा. रघुवीरसिंह ने महती भूमिका निभाई। इनके द्वारा लिखित निबंध का विवरण निम्न है। इनके अतिरिक्त भी कुछ निबंध हैं जिनकी जानका प्राप्त नहीं हो सकी है। कुछ अप्रकाशित है जो अभी तक हमारी पहु के परे हैं।

निबंधों की सूची

ओझा निबन्ध संग्रह, प्रथम भाग में प्रकाशित निबन्ध—

प्रथम प्रकरण

1. भिन्न-भिन्न देशों के प्राचीन नाम आदि
2. राजपूताने के भिन्न भिन्न विभागों के प्राचीन नाम

द्वितीय प्रकरण

1. भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की सामग्री
2. क्षत्रियों के गोत्र
3. सेनापति पुष्यमित्र और अयोध्या का शिलालेख
4. मालवे पर वल्लभी नरेशों का अधिकार
5. गौर का अज्ञात क्षत्रिय वंश
6. बापा रावल का सोने का सिक्का
7. मध्यकालीन भारत का एक अज्ञात राजवंश
8. गुजरात देश और उस पर कन्नौज के राजाओं का अधिकार
9. राजपूताना के गुर्जर राजाओं का संक्षिप्त वृतांत
10. चित्तौड़ के किले पर मालवा के परमारों का अधिकार
11. सिंधुराज की मृत्यु और भोज की राजगद्दी
12. परमार राजा भोज का उपनाम त्रिभुवन नारायण
13. अन्हिलवाड़ के पहिले के गुजरात के सोलंकी
14. लाखा फूलानी का मारा जाना

तृतीय प्रकरण

1. राजपूताने में शिवमूर्तियां
2. चितौड़ का कीर्तिस्तम्भ

चतुर्थ प्रकरण

1. यूनानी राजदूत और वैष्णव धर्म
2. माघ कवि का समय
3. कवि चन्द्रशेखर की जाति
4. कवि राजशेखर का समय
5. गुजरात से मिले प्रतिहारों तथा राजपूताना से मिले हुए सोलंकियों के दान पत्र और शिलालेख

ओझा निबन्ध संग्रह द्वितीय भाग में प्रकाशित निबन्ध—

प्रथम प्रकरण – साहित्य

1. अनंद विक्रम संवत् की कल्पना
2. पृथ्वीराज रासो का निर्माणकाल
3. विमल प्रबन्ध और विमल
4. वीसलदेव रासो का निर्माणकाल
5. कवि जटमल द्वारा रचित 'गोराबादल की बात'

द्वितीय प्रकरण – इतिहास पुरातत्व

1. भाटों की ख्यातें और महाराणियों के नाम
2. डॉ. फलीट और भीमदेव का दानपत्र
3. भीमदेव के दानपत्र का समय
4. चितौड़ के किले पर गुजरात के सोलंकियों का अधिकार
5. चालुक्यराज भीमदेव (द्वितीय) के गुहिलवंशी सामन्त महाराजाधिराज अमृतपाल का वि. स. 1242 का दानपत्र
6. राज्याभिषेक के समय पृथ्वीराज चौहान की अवस्था
7. राठोर और गहड़वाल
8. काठियावाड़ के गोहिल
9. एक परमारवंशीय दानपत्र
10. मेवाड़ के शिलालेख और अमीशाह
11. शेरशाह सूर की राव मालदेव पर चढ़ाई का कारण

तृतीय प्रकरण

1. सुदी और वदी
2. पद्मावत का सिंहलद्वीप

यदि ओझाजी पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता के विषय में तथ्यात्मक सामग्री प्रस्तुत नहीं करते तो रासो के आधार पर गढ़ी की गई अनेक भ्रान्तियां इतिहास को भ्रान्तियों के भंवर जाल में डाल देती। ओझाजी ने पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता की जांच के लिए 'अनंद विक्रम संवत् की कल्पना' के नाम से भी एक अलग विस्तृत लेख लिखा। इस लेख में उन्होंने विक्रम शक संवतों के सन्दर्भ में अपने ऐतिहासिक काल गणना के ज्ञान से पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता की जांच की। यह लेख उनकी विद्वता, ज्योतिष और इतिहास विषयक ज्ञान का अच्छा प्रमाण है। 'पृथ्वीराज रासो के निर्माण काल' निबन्ध में इन्होंने लिखा है कि यदि वास्तव में यह ग्रंथ पृथ्वीराज के समय में बना होता तो उसमें लिखी हुई पृथ्वीराज के सम्बन्ध की सब घटनाएं सिद्ध होतीं।[1]

उनका यह लेख ऐतिहासिक तथ्यों से भरा हुआ है एवं साहित्यिक

---

[1]पृथ्वीराज रासो का निर्माण काल, ओझा निबंध संग्रह द्वितीय भाग। निबंध बहुत बड़ा है एवं उसमें संस्कृत पाद टिप्पणियों की भरमार है अतः उसका प्रतिरूप के अंशावतरण में समावेश नहीं किया गया है।

समालोचना का अच्छा नमूना है। उनका एक ऐसा ही लेख 'वीसलदेव रासो का निर्माण काल' है। ओझाजी ने वीसलदेव रासो की घटनाओं का ऐतिहासिक एवं भाषायी परीक्षण कर उसकी तिथि का निर्धारण किया। इस ग्रंथ के एक छंद में लिखित संवत् की तिथि वार नक्षत्र को अपने ज्योतिष ज्ञान के आधार पर जांचा एवं सिद्ध किया कि इस तिथि के वार और नक्षत्र उस संवत् में नहीं आते। इस संदर्भ में उन्होंने वीसलदेव रासो की कई प्रतियों का पाठालोचन भी किया। इस ग्रंथ की भाषा का व्याकरण के दृष्टिकोण से भी उन्होंने अध्ययन किया और यह बताया कि भाषा का प्रयोग कवि की रुचि पर निर्भर होता है। उनका मत था कि एक ही समय में कोई कवि सरल भाषा में अपनी रचना करता है और किसी की प्रवृत्ति पुरानी भाषा के शब्दों के प्रयोग में रहती है। अतः भाषा के आधार पर किसी रचना के समय का निर्धारण नहीं किया जा सकता है। वीसलदेव रासो की घटनाएं इतिहास सम्मत नहीं हैं, इस आक्षेप का उत्तर देते हुए ओझाजी ने साहित्य को लोक रंजन के लिए माना था न कि इतिहास की पुष्टि के लिए। उन्होंने लिखा है—

'नरपति न तो इतिहासज्ञ था और न कोई बड़ा कवि ही। उसने अपनी रचना लोकरंजनार्थ बनायी थी। इसलिए उसमें ऐतिहासिकता और काव्य के गुणों की तलाश करना तथा उसके आधार पर उसके बारे में कोई मत स्थिर करना असंगत है।'

—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग 1 ई. सन् 1940-41

ऐसे ही उनके एक लेख 'विमल-प्रबन्ध और विमल' में उन्होंने पुरानी गुजराती भाषा और पुरानी राजस्थानी भाषा के गौरव ग्रंथ 'विमल प्रबन्ध' पर चर्चा की है। यह रचना कवि लावण्य के समय की है। इसका रचनाकाल संवत् 1568 है। इस लेख में उन्होंने विश्व प्रसिद्ध आबू देलवाड़ा के जैन मंदिर विमल वसहि के निर्माता विमल शाह की जीवनी गुजराती से अपरिचित हिन्दी भाषियों के लिए दी है। अपने हेतु के विषय में उन्होंने लिखा है —

'हम सुधा के पाठकों के लिये उक्त पुस्तकों का प्रथम संक्षिप्त परिचय देकर उसकी ऐतिहासिक आलोचना कर आधुनिक खोज से विमल के विषय में जो कुछ बातें प्रसिद्धि में आयी हैं, उनका निर्देश करेंगे ताकि हिन्दी के अनुरागी उस महापुरुष के कामों से यत्किंचित परिचित हों।'

—सुधा मासिक लखनऊ, वर्ष एक/खण्ड एक/ई सं. 1927 ई.

यह निबन्ध हिन्दी में ऐतिहासिक चरित्र लेखन का अच्छा नमूना है। उनके साहित्यिक निबंध 'कवि जयमल रचित गोरा बादल की बात' का सारांश प्रस्तुत करता है। इस लेख में उन्होंने जायसी के पद्मावत से उसका तुलनात्मक अध्ययन किया है। जयमल एक अच्छा कवि हुआ है। उनकी 'गोरा बादल की बात' का सम्पादन उन दिनों ठाकुर रामसिंह जी और नरोत्तमदास स्वामी कर रहे थे। उन्हीं के मार्गदर्शन के लिए उन्होंने 'गोरा बादल की बात' का ऐतिहासिक विवेचन प्रस्तुत किया। जायसी के पद्मावत की कथा और गोरा बादल की कथा का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए उन्होने दोनों के कथाक्रम के अन्तर का भी विवेचन किया है। उनका निबन्ध 'सुदी और वदी' हिन्दी लेखकों के सुदि और वदि शब्दों को एकरूपता से लिखने के लिए मार्गदर्शन के रूप में लिखा गया है। यह निबन्ध शायद उन्होने सरस्वती के स्वनामधन्य सम्पादक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से लिखा होगा। द्विवेदी जी हिन्दी के लेखकों की अशुद्धियों का परिमार्जन 'सरस्वती' के माध्यम से करते थे। सुदि और वदि शब्दों को एकरूपता से नहीं लिखे जाने के कारण ओझाजी को पीड़ा हुई। उन्होंने इस निबन्ध के प्रारम्भ में लिखा है—

आजकल हिन्दी के लेखक 'सुदि' और 'वदि' शब्दों को एकसा नहीं लिखते। कोई 'सुदि' और 'वदि' लिखते हैं, तो कोई 'सुदी' और 'वदी'। माधुरी जैसी उच्चकोटि की पत्रिका में भी ये शब्द दोनों तरह से लिखे हुए देखने में आते हैं। इनमें से कौनसे रूप शुद्ध हैं, यह निश्चय करने के लिए इनकी उत्पत्ति पर विचार करना आवश्यक है।

—माधुरी, लखनऊ ई. स. 1925

किसी कवि या रचनाकार का मूल्यांकन करते हुए वे उसकी भाषा एवं शैली का भी वर्णन करते थे। नैणसी की ख्यात की भाषा के विषय में ओझाजी लिखते हैं :—

नैणसी की प्रस्तुत ख्यात २७५ वर्ष पूर्व की मारवाड़ी भाषा में लिखी हुई है, जिसमें राजपूताने का रहने वाला हर एक आदमी भी उसको सहसा ठीक-ठीक समझ नहीं सकता। –वही

राजस्थानी के धुरन्धर कवि बांकीदासजी की जीवनी के रूप में लिखा उनका निबन्ध 'कविराजा बांकीदास' परिचयात्मक शैली का है। वे बांकीदास पर विस्तृत काम करना चाहते थे। कविराजा बांकीदास की (२८००, दो हजार आठ सौ) ऐतिहासिक बातों का संग्रह उनके निजी संग्रह मे था जिसका उल्लेख उन्होंने सुधा लखनऊ वर्ष ६ खण्ड १ मे किया है। इस जखीरे का सम्पादन शायद ओझाजी नही कर सके होंगे वरना यह खजाना राजस्थान के इतिहास के लिए बहुत उपयोगी होता। उनके परिवारजन इस संग्रह को विद्वानो तक पहुंचा देंगे तो वे इतिहास एवं साहित्य का महदुपकार करेंगे।

'महर्षि दयानन्द सरस्वती और महाराणा सज्जनसिंह' नामक निबन्ध उनके जीवनीपरक निबन्धों की परम्परा का है। इसमे महर्षि दयानन्द के व्यक्तित्व एवं महाराणा सज्जनसिंह की उनके प्रति भक्ति प्रसंग का वर्णन है। उनका निबन्ध 'महाराणा सवाई जयसिंह' भी जीवनी परक निबन्ध ही है पर यह निबन्ध उनके ऐतिहासिक तत्व चिन्तन से बोझिल हो गया है। इस निबन्ध के भाग हैं पहले में 'सवाई जयसिंह के इतिहास सम्मत कृतित्व का वर्णन है एवं दूसरे भाग में उनके विद्यानुराग का'।

बीकानेर के संस्कृत विद्वान एवं विद्यारसिक महाराजा अनूपसिंहजी के व्यक्तित्व का परिचय करवाने के लिए 'महाराणा अनूपसिंहजी का विद्यानुराग' शीर्षक से लिखा निबन्ध भी जीवकीपरक ही है। इस निबन्ध में बहुत सक्षेप मे उन्होंने महाराजा अनूपसिंहजी की साहित्यसेवा एवं पुस्तक भंडार का प्रारम्भ करने के महत्कार्य की प्रशंसा की है एवं उसके प्रकाश मे तत्कालीन देशी रियासतों के राजाओं को विद्वान विद्यानुरागी एवं पुस्तकों के संरक्षण में योगदान देने का संदेश दिया है।

'भारतेन्दु' प्रयाग वर्ष १ खंड १ संख्या २, १६२८ के अंक में छपा उनका लेख 'महाराणा राजसिंह' भी जीवनीपरक ऐतिहासिक निबन्ध है। इस निबन्ध मे

महाराणा राजसिंह के चरित्र के उज्ज्वल पक्ष का सम्यक् उद्घाटन हुआ है। 'महाराजा अनूपसिंहजी का विद्यानुराग निबन्ध' की शैली प्रमाणात्मक है किन्तु यह निबन्ध सीधी एवं सपाट प्रवाहात्मक शैली में लिखा हुआ है। इसकी भाषा सरल एवं प्रेषणीय है। 'महाराजा सवाई जयसिंह' निबन्ध इतिहासोपयोगी है तो ये निबन्ध शुद्ध साहित्योपयोगी हैं।

त्यागभूमि अजमेर वर्ष १, १६२८ में छपा उनका जीवन चरितात्मक निबंध 'अनीराय सिंह दलन' 'महाराणा राजसिंह' निबन्ध की है शैली में सरल एवं प्रेषणीय भाषा में लिखा हुआ है। ऐसे निबंध के पाठकों के मनोरंजन के लिए ही लिखा करते थे न कि उनके इतिहास ज्ञान के लिए। ये निबंध चरित्र निर्माण के उद्देश्य से लिखे होते थे। अनीराय सिंह दलन निबंध के प्रारम्भ में ओझाजी ने लिखा है :—

'राजपूत जाति का इतिहास वीरता, आत्मत्याग, दूसरों की रक्षा में प्राण देने, स्वामिभक्ति आदि के अनेक उत्तम उदाहरणों से भरा पड़ा है। हम 'त्याग भूमि' के पाठकों के मनोरंजनार्थ अनूपसिंह (अनीराय सिंहदल) का संक्षिप्त परिचय देते हैं।'

'राजा गिरधर कछवाहा' भी उनका मनोरंजनार्थ लिखा हुआ जीवन परिचयात्मक निबंध शैली का अच्छा नमूना है।'

'महाराणा प्रताप की पहाड़ों में स्थिति' नामक निबंध उन्होंने त्याग-भूमि (अजमेर वर्ष २ अक ६ जोए, १६८६ वि.) में लिया था। कर्नल टाड एवं अन्य लोगों ने महाराणा प्रताप की पहाड़ो में भटकने की करुण गाथा को बढ़ा चढ़ा कर लिखा है एवं वर्णन किया है कि जब अमरसिंह भूख से रोने लगा तब राणा प्रताप द्रवित हो गये एवं उन्होने अकबर को पत्र लिखा। ओझाजी इस घटना को केवल कल्पित मानते थे अतः उसके निराकरण मे उन्होंने यह निबंध लिखा।

इसी तरह 'वीर राठौड़ जयमल' एवं 'वीरवर पत्ता' भी उनके जीवन चरितात्मक निबंध हैं। वीरवर पत्ता का तो मात्र परिचय दिया गया है। इसे निबंध नहीं कहा जा सकता, इसे टिप्पण कहा जा सकता है पर वीर राठौड जयमल ऐतिहासिक तथ्ययुक्त जीवन चरितात्मक निबंध है। यह निबंध सन् १६२८ में अकोवर से प्रकाशित 'महारथी' पत्रिका के राजपूत अंक के लिए लिखा गया था।

ओझाजी के समीक्षात्मक साहित्यिक निबंध 'कवि जगुनाथ का वृत्तविलास डा. हीरालाल जी की साहित्यसेवा' आदि पर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिए।

उनके वर्णनात्मक निबन्धों में 'चित्तौड़ का कीर्ति स्तम्भ' एवं राजपूताना में मूर्तिकला है। 'चित्तौड़ कीर्ति स्तम्भ' निबन्ध उन्होंने मनोरमा (काशी वर्ष ३ भाग ३ संख्या ४ फरवरी १९३३) में पाठकों के मनोरंजनार्थ लिखा था। यह वर्णन प्रधान तथा तथ्यात्मक है एवं कई जानकारियों से भरा हुआ है। इसे 'आँखों देखा हाल' की शैली में लिखा हुआ पर्यटनोपयोगी निबन्ध मान सकते हैं।

'राजपूताना में मूर्तिकला' मूर्तिकला विषयक निबन्ध है पर इसे शुद्ध वस्तुपरक वर्णनात्मक निबन्ध ही कहेंगे। इसे मूर्तिकला का सर्वांग सार नहीं कहा जा सकता है क्योंकि सर्वांग में तो सभी का वर्णन होता है पर इस निबन्ध में मूर्तिकला विषयक सूचनाओं, संकेतों के साथ तथ्यात्मक वर्णन है। चित्तौड़ का कीर्ति स्तम्भ और यह निबन्ध छोटे होने के कारण निबन्ध की बनावट के अच्छे लगते हैं। ये निबन्ध इतिहास एवं पुरातत्व की सीमा रेखा का निर्देशन करते हैं।

'उदयपुर राज्य में श्री वल्लभ सम्प्रदाय के तीर्थ' को पर्यटनोपयोगी परिचयात्मक निबन्ध माना जा सकता है। इसमें 'अन्नकूट' तथा 'दोलोत्सव' के सुन्दर साहित्यिक वर्णन हैं। इसी निबन्ध में कांकरोली के सरस्वती भंडार की हस्तलिखित चित्रित प्रतियों के बारे में महत्वपूर्ण सूचनाएं हैं। हस्तलिखित प्रतियां काली स्याही या सुनहरी स्याही से लिखी होती है पर इस लेख में उन्होंने रंगीन कागजों पर सफेद स्याही से लिखी गीता की एक अनुपम प्रति का वर्णन करते हुए लिखा है कि 'ऐसी अन्य पुस्तक संसार भर में किसी अन्य प्राचीन पुस्तकों में शायद मिले'।

उनके विविध निबंधों में 'जजिया' 'दीवाली' तथा 'राजपूत का बख्तर' नामक निबंध है। मुसलमान कालीन 'जजिया' कर को उन्होंने हिन्दू-जागृति के कारणों में से एक माना है एवं उसका विवेचनात्मक सप्रमाण वर्णन किया है इसकी शैली भी वस्तुपरक निबंधों की है। 'दीवाली' एवं 'राजपूत का बख्तर' बालकोपयोगी निबंध है ये दोनों निबंध एवं राजा गिरधर कछवाहा, मनोराय-सिंहदलन तथा 'जयमल राठौड़' आदि निबंध अपने चरित्र निर्माणात्मक सांस्कृतिक पक्ष के कारण बाल साहित्य के अन्तर्गत ही आते हैं।

संवत् 1978 वि. में ओझाजी नागरी प्रचारिणी पत्रिका के सम्पादक बने पत्रिका ने अपने तेवर बदले। ओझाजी ने अपना सम्पादकीय निवेदन में अं- में लिखे निबन्धों के अनुवादों पर निर्भर रहने की आलोचना की एवं शोध निबं के लिए मार्गदर्शन किया। यह निवेदन अविकल रूप से परिशिष्ट में दिया गया है।

उनके नागरी प्रचारिणी पत्रिका के सम्पादन काल में हिन्दी व्याकरण एवं साहित्येतिहास की पीठिका तैयार हुई। इसी काल में आचार्य रामचंद्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दर दास, पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, जगन्नाथ दास रत्नाकर और डा. बाबूराम सक्सेना ने हिन्दी भाषा एवं साहित्य के भंडार को भरा। नागरी प्रचारिणी पत्रिका में निबंधों के रूप में छपे आचार्य रामचंद्र शुक्ल तथा बाबू श्यामसुन्दर दास के लेख 1930 तक पुस्तकाकार में प्रकाशित हो चुके थे। ओझाजी ने पत्रिका को इतिहास पुरातत्व तथा साहित्य की त्रिवेणी संगम बना दिया था पर अब उसे पुनः साहित्य एवं शोध की पत्रिका बनाने की आवश्यकता महसूस हुई। नागरी प्रचारिणी पत्रिका अंक 1 भाग 11 संवत् 1987 (सन् 1930 ई.) से इसे पुनः साहित्य तथा शोध की पत्रिका बनाने का प्रयत्न किया गया एवं पुरातत्व एवं इतिहास के अतिरिक्त आलोचना शीर्षक से एक से विभाग शुरू किया गया। इसी अंक से बिहारी, हिन्दी गद्य शैली का विकास, हिन्दी भाषा और साहित्य, हिन्दी कविता में योग प्रवाह आदि स्तरीय समीक्षात्मक निबन्ध प्रकाशित हुये।

उनके ऐतिहासिक निबन्ध भी किसी समस्या विशेष पर उनका स्पष्टीकरण करने हेतु लिखे गये हैं। इन निबन्धों में उनका तर्कशील अन्वेषक का दृष्टिकोण प्रधान रहता है। 'यूनानी राजदूत और वैष्णव धर्म,' 'शिवाजी का जन्मतिथि' एवं कछवाहों के इतिहास में 'उलझन' आदि ऐसे ही निबन्ध हैं। भारत के प्राचीन इतिहास की सामग्री तथा ऐसे ही अन्य निबन्धों में वे प्रशस्तियों एवं एक साहित्य रसिक की भूमिका का निर्वाह करते हुए इतिहास को तथ्यपरक वस्तु पर प्रास गढ़ाते रहते हैं। उनके समस्त ऐतिहासिक निबन्ध पुष्ट प्रमाणों पर आधारित हैं एवं तर्कविचारक एक नई दिशा देते हैं।

□□

अनुसंधित्सा

प्राचीन लिपिमाला

भूमिका अंश

संवत् 1978 वि. में श्रोझाजी नागरी प्रचारिणी पत्रिका के सम्पादक बने। पत्रिका ने अपने तेवर बदले। श्रोझाजी ने अपना सम्पादकीय निवेदन में अंग्रेजी में लिखे निबन्धों के अनुवादों पर निर्भर रहने की आलोचना की एवं शोध निबंधों के लिए मार्गदर्शन किया। यह निवेदन अविकल रूप से परिशिष्ट में दिया गया है।

उनके नागरी प्रचारिणी पत्रिका के सम्पादन काल में हिन्दी काव्यशास्त्र एवं साहित्येतिहास की पीठिका तैयार हुई। इसी काल में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दर दास, पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, जगन्नाथ दास रत्नाकर श्रौर डा. बाबूराम सक्सेना ने हिन्दी भाषा एवं साहित्य के भंडार को भरा। नागरी प्रचारिणी पत्रिका में निबंधों के रूप में छपे आचार्य रामचंद्र शुक्ल तथा बाबू श्यामसुन्दर दास के लेख 1930 तक पुस्तकाकार में प्रकाशित हो चुके थे। श्रोझाजी ने पत्रिका को इतिहास पुरातत्व तथा साहित्य को त्रिवेणी संगम बना दिया था पर अब उसे पुनः साहित्य एवं शोध की पत्रिका बनाने की आवश्यकता महसूस हुई। नागरी प्रचारिणी पत्रिका अंक 1 भाग 11 संवत् 1987 (सन् 1930 ई.) से इसे पुनः साहित्य तथा शोध की पत्रिका बनाने का प्रयत्न किया गया एवं पुरातत्व एवं इतिहास के अतिरिक्त आलोचना शीर्षक से अलग से विभाग शुरू किया गया। इसी अंक से बिहारी, हिन्दी गद्य शैली का विकास, हिन्दी भाषा और साहित्य, हिन्दी कविता में योग प्रवाह आदि स्तरीय समीक्षात्मक निबन्ध प्रकाशित हुये।

उनके ऐतिहासिक निबन्ध भी किसी समस्या विशेष पर उसका स्पष्टीकरण करने हेतु लिखे गये है। उन निबन्धो में उनका तर्कशील अन्वेषक का दृष्टिकोण प्रधान रहता है। 'यूनानी राजदूत और वैष्णव धर्म,' 'शिवाजी का जन्मदिन' एवं कछवाहों के इतिहास में 'उलझन' आदि ऐसे ही निबन्ध हैं। भारत के प्राचीन इतिहास की सामग्री तथा ऐसे ही अन्य निबन्धों में वे प्रशस्तियों एवं एक साहित्य रसिक की भूमिका का निर्वाह करते हुए इतिहास की तथ्यपरक वस्तु पर आंख गड़ाते रहते है। उनके समस्त ऐतिहासिक निबन्ध पुष्ट प्रमाणों पर आधारित हैं एवं तद्विषयक एक नई दिशा देते है।

□□

प्राचीन लिपिमाला

भूमिका - अंश

मनुष्य की बुद्धि के सबसे बड़े महत्व के दो कार्य भारतीय ब्राह्मी लिपि और वर्तमान शैली के अंकों की कल्पना है। इस बीसवीं शताब्दी में भी हम संसार की बड़ी उन्नतिशील जातियों की लिपियों की तरफ देखते हैं तो उनमें उन्नति की गंध भी नहीं पाई जाती। कहीं तो ध्वनि और उसके सूचक चिन्हों (अक्षरों) में साम्य ही नहीं है जिससे एक ही चिन्ह से एक से अधिक ध्वनियां प्रकट होती है और कहीं एक ही ध्वनि के लिये एक से अधिक चिन्हों का व्यवहार होता है और अक्षरों के लिये कोई शास्त्रीय क्रम ही नहीं। कहीं लिपि वर्णात्मक नहीं किन्तु चित्रात्मक ही है।

ये लिपियां मनुष्य जाति के ज्ञान की प्रारम्भिक दशा की निर्माण स्थिति से अब तक कुछ भी आगे नहीं बढ़ सकी परन्तु भारतवर्ष की लिपि हजारों वर्षों पहिले भी इतनी उच्च कोटि को पहुंच गई थी कि उसकी उत्तमता की कुछ भी समानता संसार भर की कोई दूसरी लिपि अब तक नहीं कर सकती। इसमें ध्वनि और लिखितवर्णों का सम्बन्ध ठीक वैसा ही है जैसा कि फोनोग्राफ की ध्वनि और उसकी चूड़ियों पर के चिन्हों के बीच है। इसमें प्रत्येक आर्य ध्वनि के लिये अलग-अलग चिह्न होने से जैसा बोला जावे वैसा ही लिखा जाता है और जैसा लिखा जावे वैसा ही पढ़ा जाता है तथा वर्णक्रम वैज्ञानिक रीति से स्थिर किया गया है। यह उत्तमता किसी अन्य लिपि में नहीं है।

संख्या ही प्रकट कर सकता था। भारतवर्ष में भी अंकों का प्राचीन क्रम यही था परन्तु इस जटिल अंकक्रम से गणित विद्या में विशेष उन्नति नहीं हो सकती थी जिससे यहाँ वालों ने ही वर्तमान अंकक्रम निकाला जिसमें 1 से 9 तक के नव अंक और खाली स्थानसूचक शून्य इन दस चिह्नों से अंकविद्या का सम्पूर्ण व्यवहार चल सकता है।

भारतवर्ष से ही यह अंकक्रम संसार भर ने सीखा और वर्तमान समय में गणित और उससे सम्बन्ध रखने वाले अन्य शास्त्रों में जो उन्नति हुई है वह इसी क्रम के कारण से ही है। इन्हीं दोनो बातों से प्राचीनकाल के भारतीय आर्य लोगों की बुद्धि और विद्या सम्बन्धी उन्नत दशा का अनुमान होता है। इन्हीं दोनों विषयों एवं उनके समय-समय के भिन्न-भिन्न रूपांतरों के संबंध का यह पुस्तक है।

हिन्दी भाषा में इस पुस्तक के लिखे जाने के दो कारण हैं। प्रथम तो यह कि हमारे यहां के संस्कृत जानने वाले बड़े-बड़े पंडितों को जब कोई 1000 वर्ष से अधिक प्राचीन शिलालेख, दानपत्र, सिक्का या पुस्तक मिल जाता है तो वे जिस भाषा में वह लिखा गया हो उसके विद्वान् होने पर भी उसको पढ़ नहीं सकते जिससे उसकी लिपि को तिलंगी या कनड़ी आदि कह कर टाल जाते हैं और उसका आशय जान नहीं सकते। यह थोड़े खेद की बात नहीं है। यदि वे इस पुस्तक के सहारे थोड़े से श्रम से सारे भारतवर्ष की नहीं तो अपने प्रदेश की प्राचीन लिपियों का पढ़ना भी सीख जावें तो उनकी विद्वत्ता के लिये सोने के साथ सुगंधि हो जाय और हमारे यहां के प्राचीन शोध को सहायता भी मिले। जिन विद्यापीठों में केवल संस्कृत की पढ़ाई होती है वहां की उच्च श्रेणियों में यदि यह पुस्तक पढ़ाया जावे तो संस्कृतज्ञ विद्वानों में जो इतिहास के ज्ञान की त्रुटि पाई जाती है उसकी कुछ पूर्ति हो जायगी।

हिन्दी न जानने वाले जो विद्वान् प्राचीन शोध में अनुराग दिखाते हैं वे संस्कृत तो पढ़े ही होते हैं और देवनागरी लिपि से भी भली भांति परिचित होते हैं। भले ही वे इस पुस्तक के प्रारम्भ के लेखों को न समझ सकें, तो भी लिपिपत्रों की सहायता से वे प्राचीन लिपियों का पढ़ना सीख सकते हैं। दूसरा कारण यह है कि हिंदी साहित्य में अब तक प्राचीन शोध संबंधी साहित्य का अभाव सा ही है। यदि इस पुस्तक से उक्त अभाव के एक अणुमात्र अंश की भी पूर्ति हुई तो मुझ जैसे हिंदी के तुच्छ सेवक के लिये विशेष आनंद की बात होगी।

इस पुस्तक का क्रम ऐसा रक्खा गया है कि ई. स की चौथी शताब्दी के ध्य के आसपास तक की समस्त भारतवर्ष की लिपियों की संज्ञा ब्राह्मी रक्खी । उसके बाद लेखनप्रवाह स्पष्ट रूप से दो स्रोतों में विभक्त होता है, जिनके ाम 'उत्तरी' और 'दक्षिणी' रखे हैं। उत्तरी शैली में गुप्त, कुटिल, नागरी, ारदा और बंगला लिपियों का समावेश होता है और दक्षिणी में पश्चिमी, ध्यप्रदेशी, तेलुगु–कनड़ी, ग्रंथ, कलिंग और तमिल लिपियाँ हैं। इन्हीं मुख्य लिपियों से भारतवर्ष की समस्त वर्तमान (उर्दू के अतिरिक्त) लिपियाँ निकली । अन्त में खरोष्ठी लिपि दी गई है।

1 से 70 तक के लिपिपत्रों के बनाने में क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम स्वर, फिर व्यंजन, उसके पीछे क्रम से हलंत व्यंजन, स्वरमिलित व्यंजन, संयुक्त यंजन, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के चिह्नों सहित व्यंजन और अन्त में ों का सांकेतिक चिह्न (यदि हो तो) दिया गया है। 1 से 50 तक और 55 से 70 तक के लिपिपत्रों में से प्रत्येक के अन्त में अभ्यास के लिये कुछ ंक्तियाँ मूल लेखादि से उद्धृत की गई हैं। उनमें शब्द समासों के अनुसार अलग-अलग इस विचार से रक्खे गये हैं कि विद्यार्थियों को उनके पढ़ने में सुभीता हो।

सकती हैं और उनको तामिल भाषा जानने वाले ही समझ सकते हैं. तो भी बहुधा प्रत्येक शताब्दी के लेखादि से उनकी विस्तृत वर्णमालाएं बना दी हैं जिनसे तामिल जानने वालों को उन लिपियों के लेखादि के पढ़ने में सहा[illegible] मिल सकेगी।

लिपिपत्रों में दिये हुए अक्षरों तथा अंकों का समय निर्णय करने में जि[illegible] लेखादि में निश्चित संवत् मिले उनके तो वे ही संवत् दिये गये हैं, परन्तु जि[illegible] कोई निश्चित संवत् नहीं है उनका समय बहुधा लिपियों के आधार पर ही या अन्य साधनों से लिखा गया है जिससे उसमें अन्तर होना सम्भव है, क्यों[illegible] किसी लेख या दानपत्र में निश्चित संवत् न होने की दशा में केवल उसकी लि[illegible] के आधार पर ही उसका समय स्थिर करने का मार्ग निष्कंटक नहीं है। उस[illegible] पच्चीस पच्चास ही नहीं किन्तु कभी-कभी तो सौ दो सौ या उससे भी अधि[illegible] वर्षों की चूक हो जाना सम्भव है ऐसा मैं अपने अनुभव से कह सकता हूं।

भारतवर्ष में लिखने के प्रचार की प्राचीनता

देवताओं ने इन्द्र से कहा कि तुम इसको हमारे लिए व्याकरण (नियमबंधन) कर दो। इन्द्र ने कहा कि मैं (इस काम के लिये) यह वर मांगता हूं कि यह (सोम-पात्र) मेरे तथा वायु के लिये एक ही लिया जाय। इससे ऐंद्रवायव ग्रह शामिल ही लिया जाता है।

इन्द्र ने वाणी को बीच में से पकड़ कर व्याकृत किया। इसलिये वाणी व्याकृत (व्याकरणवाली, नियमबद्ध) कही जाती है। यही कथा शतपथ ब्राह्मण में भी मिलती है परन्तु उसमें वि+आ+कृ धातु के स्थान पर निर्+वच् धातु से बने हुए निर्वचन और निरुक्त शब्द काम में लिये हैं, और यह कहा है कि इन्द्र ने पशु, वयस् (पक्षी) और सरीसृपों (रेंगनेवालों) की वाणी को छोड़ कर उसके चौथे अंश अर्थात् मनुष्यों की ही वाणी का निर्वचन (व्याकरण) किया क्योंकि उसको ग्रह में से चतुर्थांश ही मिला था।

उपर्युक्त प्रमाणों से पाया जाता है कि उपनिषद्, आरण्यक, ब्राह्मण और तैत्तिरीय संहिता के समय तक व्याकरण के होने का पता चलता है। यदि उस समय लिखने का प्रचार न होता तो व्याकरण और उसके पारिभाषिक शब्दों की चर्चा भी न होती, क्योंकि जो जातियां लिखना नहीं जानतीं वे छंदोबद्ध गीत और भजन अवश्य गाती हैं, कथाएं कहती हैं परन्तु उनको स्वर, व्यंजन, घोष, संधि, एकवचन, बहुवचन, लिंग आदि व्याकरण के पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान सर्वथा नहीं होता। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हिंदुस्तान में ही भली भांति मिल सकता है, जहां 313415389 मनुष्यों की आबादी में से केवल 18539578 मनुष्य लिखना पढ़ना जानते हैं, बाकी के 294875811 अभी तक लिखना पढ़ना नहीं जानते। उनमें किसी को भी व्याकरण के पारिभाषिक शब्दों का कुछ भी ज्ञान नहीं है।

व्याकरण की रचना लेखनकला की उन्नत दशा में ही होती है और उसके लिये भाषा का सारा साहित्य टटोलना पड़ता है और उसके प्रथम रचयिता को उसके पारिभाषिक शब्द गढ़ने पड़ते हैं। भारतवर्ष की जिन असभ्य और प्राथमिक जातियों के यहां लिखित साहित्य नहीं है उनकी भाषाओं के व्याकरण लिखना जानने वाले यूरोपियन् विद्वानों ने अभी अभी बनाये हैं।

ऋग्वेद में गायत्री, उष्णिह, अनुष्टुभ्, बृहती, विराज्, त्रिष्टुभ् और जगती छंदों के नाम मिलते हैं। वाजसनेयि संहिता में इनके अतिरिक्त 'पंक्ति' छंद का भी नाम मिलता है और द्विपदा, त्रिपदा, चतुष्पदा, षट्पदा, ककुभ्

आदि छंदों के भेद भी लिखे हैं। अथर्ववेद में भिन्न भिन्न स्थानों में पृथक नामों के अतिरिक्त एक स्थान पर छंदों की संख्या 11 लिखी है। शतपथ ब्राह्मण में मुख्य छंदों की संख्या 8 दी है; और तैत्तिरीय संहिता, मैत्रायणी संहिता, काठक संहिता तथा शतपथ ब्राह्मण में कई छंदों और उनके पादों के अक्षरों की संख्या तक गिनाई है।

लिखना न जानने वाली जातियां छंदोबद्ध गीत और भजन गाती हैं, और हमारे यहां स्त्रियां, जिनमें केवल 95 पीछे एक लिखना जानती है और जिनकी स्मरणशक्ति बहुधा पुरुषों की अपेक्षा प्रबल होती है, विवाह आदि सांसारिक उत्सवों के प्रसंग-प्रसंग के, एवं चौमासा, होली आदि त्यौहारों के गीत और बहुतेरे भजन, जिनमें विशेषकर ईश्वरोपासना, देवी देवताओं की स्तुति या वेदांत के उपदेश हैं, गाती हैं। यदि उनका संग्रह किया जावे तो सम्भव है कि वेदों की संहिताओं से भी उनका प्रमाण बढ जावे, परन्तु उनको उनके छंदों के नामों का लेश मात्र भी ज्ञान नहीं होता। छंदःशास्त्र का प्रथम रचयिता ही छंदोबद्ध साहित्यसमुद्र को मथ कर प्रत्येक छंद के अक्षर या मात्राओं की संख्या के अनुसार उनके वर्ग नियत कर उनके नाम अपनी तरफ से स्थिर करता है, तभी लोगों में उनकी प्रवृत्ति होती है। लिखना न जानने वाली जातियों में छंदों का नामज्ञान नही होता।

आदर्श लिपि में यह गुण होना चाहिये कि प्रत्येक उच्चारण के लिये असंदिग्ध संकेत हो जिससे जो बोला जाय वह ठीक वैसा ही लिखा जाय और जो लिखा जाय वह ठीक वैसा ही पढ़ा जाय। उच्चारित अक्षर और लिखित वर्ण के इस सम्बन्ध को निभाने के उद्देश्य का विचार करें तो ब्राह्मी लिपि सर्वोत्तम है और इसमें और सेमेटिक लिपियों में रात दिन का सा अन्तर है। इसमें स्वर और व्यंजन पूरे हैं और स्वरों में ह्रस्व, दीर्घ के लिए तथा अनुस्वार वैज्ञानिक क्रम से जमाये गये हैं। इसमें किसी प्रकार की त्रुटि नहीं है और आर्य भाषाओं की ध्वनियो को व्यक्त करने के लिये इसमें किसी प्रकार के संशोधन या परिवर्तन की अपेक्षा नहीं है।

व्यंजनो के साथ स्वरों के संयोग को मात्रा के चिन्हों से प्रकट करने की इसमें ऐसी विशेषता है जो किसी और लिपि मे नहीं है। साहित्य और सभ्यता की अति उच्च अवस्था में ही ऐसी लिपि का विकास हो सकता है। वैदिक और प्राचीन संस्कृत वाङ्मय के 63 या 64 मूल उच्चारणों के लिये केवल 18 उच्चारणों के प्रकट करने वाले 22 संकेतों की दरिद्र सेमिटिक लिपि कैसे पर्याप्त

मिसर आदि में अंग भावों के संकेतात्मक चित्र दिए हुए और वे शब्दों के संकेत होकर उनके अक्षरों के संकेत बने, इस तरह यहां भी किसी चित्रलिपि से ब्राह्मी लिपि बनी, या प्रारम्भ से ध्वनि के ही सूचक चिह्न बना लिये गये, यह कुछ निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता। निश्चय के साथ इतना ही कहा जा सकता है कि इस विषय के प्रमाण जहां तक मिलते हैं वहां तक ब्राह्मी लिपि अपनी प्रौढ़ अवस्था में और पूर्ण व्यवहार में आती हुई मिलती है और उसका किसी बाहरी स्रोत और प्रभाव से निकलना सिद्ध नहीं होता।

आर. शाम शास्त्री ने 'देवनागरी लिपि की उत्पत्ति के विषय का सिद्धांत' नामक एक विस्तृत लेख में यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि देवताओं की मूर्तियां बनने के पूर्व उनकी उपासना सांकेतिक चिन्हों द्वारा होती थी जो कई त्रिकोण तथा चक्रों आदि से बने हुए यंत्र के, जो 'देवनगर' कहलाता था, मध्य में लिखे जाते थे। देवनगर के मध्य लिखे जाने वाले अनेक प्रकार के सांकेतिक चिन्ह कालांतर में उन उन नामों के पहिले अक्षर माने जाने लगे और देवनगर के मध्य उनका स्थान होने से उनका नाम 'देवनागरी' हुआ। यह लेख बड़ी गवेषणा के साथ लिखा गया है और युक्तियुक्त अवश्य है, परन्तु जब तक यह सिद्ध न हो कि जिन जिन तांत्रिक पुस्तकों से अवतरण उद्धृत किये गये हैं वे वैदिक साहित्य के समय के पहिले के, या कम से कम मौर्यकाल से पहिले के हैं, तब तक हम उनका मत स्वीकार नहीं कर सकते।

बाबू जगन्मोहनवर्मा ने एक लम्बा चौड़ा लेख लिख कर यह बतलाने का यत्न किया है कि 'वैदिक चित्रलिपि या उससे निकली हुई सांकेतिक लिपि से ब्राह्मी लिपि का विकास हुआ, परन्तु उस लेख में कल्पित वैदिक चित्रलिपि के अनेक मनमाने चित्र अनुमान कर उनसे भिन्न अक्षरों के विकास की जो कल्पना की गई है उसमें एक भी अक्षर की उत्पत्ति के लिये कोई भी प्राचीन लिखित प्रमाण नहीं दिया जा सका। ऐसी दशा में उनकी यह कल्पना रोचक होने पर भी प्रमाणरहित होने से स्वीकार नहीं की जा सकती। बाबू जगन्मोहनवर्मा ने दूसरी बात यह भी निकाली है कि 'ट', 'ठ', 'ड', 'ढ' और 'ण' ये पांच मूर्धन्य वर्ण आर्यों के नहीं थे। वैदिक काल के प्रारम्भ में अनार्यों की भाषा में मूर्धन्य वर्णों का प्रयोग जब आर्यों ने देखा तब वे उनके कानों को बड़े मनोहर लगे, अतएव उन्होंने उन्हें अपनी भाषा में लिया।'

खरोष्ठी लिपि

खरोष्टी लिपि की लेखन शैली फारसी की भाँति दाहिनी ओर से बाईं ओर होने से निश्चित है यह लिपि सेमिटिक वर्ग की है, और इसके 11 अक्षर 'क', 'ज', 'द', 'न', 'ब', 'य', 'र', 'व', 'ष', 'स' और 'ह' समान उच्चारण वाले अरमइक् अक्षरों से बहुत कुछ मिलते हुए हैं।

सेमिटिक् लिपि सम्बन्धी आधुनिक शोध से अनुमान होता है कि असीरिया और बाबीलन् में क्यूनिफार्म लिपि का प्रचार होने पर भी राजकीय और व्योपार के कामों में अरमइक् लिपि काम में आती थी। हखामनी (अकेमीनियन्) वंश के बादशाहों के समय ईरान के राज्य का प्रताप बहुत बढ़ा और दूर दूर के देश उक्त राज्य के अधीन हो गये। उस समय के अरमइक् लिपि के अनेक शिलालेख मिसर, अरब और एशिया माइनर में मिले हैं और एक ईरान में तथा एक हिंदुस्तान में तक्षशिला नगर में भी मिल चुका है। मिसर में हखामनियों के राजत्वकाल के बहुतेरे पॅपायरस मिले हैं और एशिया माइनर से मिले हुए ईरानी क्षत्रपों (सत्रपों) के कई सिक्कों पर उसी लिपि के लेख मिलते हैं, जिनसे पाया जाता है कि हखामनी वंश के ईरानी बादशाहों की राजकीय लिपि और भाषा अरमइक् ही होनी चाहिये। व्योपार के लिये भी उसका उपयोग दूर दूर तक होना पाया जाता है।

विजय किया और ई. स. पूर्व 316 के कुछ ही बाद दारा (प्रथम) ने सिंधु तक का हिंदुस्तान का प्रदेश अपने अधीन किया जो ई. स. पूर्व 331 तक, जब कि यूनान के बादशाह सिकंदर ने गॉगमेला की लड़ाई में ईरान के बादशाह दारा (तीसरे) को परास्त कर ईरानी राज्य पर नाम मात्र के लिये अपना अधिकार जमाया, किसी न किसी प्रकार बना रहा। अतएव संभव है कि ईरानियों के राजत्व-काल में उनके अधीन के हिंदुस्तान के इलाकों में उनकी राजकीय लिपि अरमइक् का प्रवेश हुआ हो और उसी से खरोष्ठी लिपि का उद्भव हुआ हो, जैसे कि मुसलमानों के राज्य समय फ़ारसी लिपि का, जो उनकी राजकीय लिपि थी, इस देश में प्रवेश हुआ और उसमें कुछ वर्ण बढ़ाने से उर्दू लिपि बनी।

अरमइक् लिपि में केवल 22 अक्षर होने तथा स्वरों की अपूर्णता और उनमें ह्रस्व दीर्घ का भेद न होने एवं स्वरों की मात्राओं का सर्वथा अभाव होने से वह यहां की भाषा के लिए सर्वथा उपयुक्त न थी तो भी राजकीय लिपि होने के कारण यहां वालों में से किसी ने ई. स. पूर्व की पांचवीं शताब्दी के आसपास उसके अक्षरों की संख्या बढ़ा कर, कितने एक को आवश्यकता के अनुसार बदल तथा स्वरों की मात्राओं की योजना कर उसपर से मामूली पढ़े लिखे लोगों, व्योपारियों तथा अहलकारों के लिये काम चलाऊ खरोष्ठी लिपि बना दी हो। संभव है कि इसका निर्माता चीन वालों के लेखानुसार खरोष्ठी नामक आचार्य (ब्राह्मण) हो, जिनके नाम पर से इस लिपि का नाम खरोष्ठी हुआ, और यह भी सम्भव है कि तक्षशिला जैसे गांधार के किसी प्राचीन विद्यापीठ में इसका प्रादुर्भाव हुआ हो।

जितने लेख अब तक इस लिपि के मिले हैं उनसे पाया जाता है कि इसमें स्वरों तथा उनकी मात्राओं में ह्रस्व दीर्घ का भेद न था। संयुक्ताक्षर केवल थोड़े ही मिलते हैं। इतना ही नहीं, किंतु उनमें से कितने एक में संयुक्त व्यंजनों के अलग अलग रूप स्पष्ट नहीं पाये जाते परन्तु एक विलक्षण ही रूप मिलता है जिससे कितने एक संयुक्ताक्षरों का पढ़ना अभी तक संशययुक्त ही है। बौद्धों के प्राकृत पुस्तक, जिनमें स्वरों के ह्रस्व दीर्घ का विशेष भेद नहीं रहता था और जिनमें संयुक्ताक्षरों का प्रयोग विरल ही होता था, इसमें लिखे हुए मिले हैं, परन्तु यह लिपि संस्कृत ग्रंथों के लिखने के योग्य नहीं थी। शुद्धता और संपूर्णता के विचार से देखा जावे तो इसमें और ब्राह्मी में उतना ही अन्तर पाया जाता है जितना कि इस समय छपी हुई नागरी की पुस्तकों तथा राजपूताने के अधिकतर रजवाड़ों मामूली पढ़े हुए अहलकारों की लिखावटों में।

ई. स. की तीसरी शताब्दी के आस पास तक इस लिपि का कुछ प्रचार पंजाब में बना रहा, जिसके बाद यह इस देश में से सदा के लिए अस्त हो गई और इसका स्थान ब्राह्मी ने ले लिया, तो भी हिंदुकुश पर्वत से उत्तर के देशों तथा चीनी तुर्किस्तान आदि में, जहाँ बौद्ध धर्म और भारतीय सभ्यता रह ही रही थी, कई शताब्दी पीछे तक भी इस लिपि का प्रचार बना रहा। प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डॉ. सर ऑरल स्टाइन् ने चीनी तुर्किस्तान आदि प्रदेशों से असाधारण श्रम कर जो प्राचीन वस्तुएं एकत्रित की हैं उनमें इस लिपि में लिखे हुए पुस्तक और लकड़ी की लिखित तख्तियाँ आदि बहुमूल्य सामग्री भी है।

गुप्तलिपि

ई. स. की चौथी और पांचवीं शताब्दी (लिपिपत्र 16–17)

गुप्तों के राज्य के समय सारे उत्तरी भारत में ब्राह्मी लिपि का जो परिवर्तित रूप प्रचलित था उसका कल्पित[1] नाम 'गुप्तलिपि' रखा गया है। यह लिपि गुप्तवंशी राजाओं के, जो उत्तरी भारत के बड़े हिस्से के स्वामी थे, लेखों में, एवं उनके समकालीन परिव्राजक और राजर्षितुल्य वंशियों तथा उच्चकल्प के महाराजाओं के दानपत्रादि में जो अधिकतर मध्यभारत से और कुछ [illegible] से मिले हैं, पाई जाती है। ऐसे ही उस समय के अन्य राजवंशियों तथा साधारण पुरुषों के लेखादि में भी मिलती है। राजपूताना[2]

विजय किया और ई. स. पूर्व 316 के कुछ ही बाद दारा (प्रथम) ने सिंधु तक का हिंदुस्तान का प्रदेश अपने अधीन किया जो ई. स. पूर्व 331 तक, जब कि यूनान के बादशाह सिकंदर ने गॉगमेला की लड़ाई में ईरान के बादशाह दारा (तीसरे) को परास्त कर ईरानी राज्य पर नाम मात्र के लिये अपना अधिकार जमाया, किसी न किसी प्रकार बना रहा। अतएव संभव है कि ईरानियों के राजत्व काल में उनके अधीन के हिंदुस्तान के इलाकों में उनकी राजकीय लिपि अरमइक् का प्रवेश हुआ हो और उसी से खरोष्ठी लिपि का उद्भव हुआ हो, जैसे कि मुसलमानों के राज्य समय फ़ारसी लिपि था, जो उनकी राजकीय लिपि थी, इस देश मे प्रवेश हुआ और उसमे कुछ वर्ण बढ़ाने से उर्दू लिपि बनी।

अरमइक् लिपि में केवल 22 अक्षर होने तथा स्वरों की अपूर्णता और उनमें ह्रस्व दीर्घ का भेद न होने एवं स्वरों की मात्राओं का सर्वथा अभाव होने से वह यहां की भाषा के लिए सर्वथा उपयुक्त न थी तो भी राजकीय लिपि होने के कारण यहां वालो में से किसी ने ई. स. पूर्व की पांचवीं शताब्दी के आसपास उसके अक्षरों की संख्या बढ़ा कर, कितने एक को आवश्यकता के अनुसार बदल तथा स्वरों की मात्राओं की योजना कर उसपर से मामूली पढ़े लिखे लोगों, व्योपारियों तथा अहलकारों के लिये काम चलाऊ खरोष्ठी लिपि बना दी हो। संभव है कि इसका निर्माता चीन वालों के लेखानुसार खरोष्ठी नामक आचार्य (ब्राह्मण) हो, जिनके नाम पर से इस लिपि का नाम खरोष्ठी हुआ, और यह भी सम्भव है कि तक्षशिला जैसे गांधार के किसी प्राचीन विद्यापीठ में इसका प्रादुर्भाव हुआ हो।

जितने लेख अब तक इस लिपि के मिले हैं उनसे पाया जाता है कि इसमें स्वरों तथा उनकी मात्राओं में ह्रस्व दीर्घ का भेद न था। संयुक्ताक्षर केवल थोड़े ही मिलते हैं। इतना ही नहीं, किंतु उनमें से कितने एक में संयुक्त व्यंजनों के अलग अलग रूप स्पष्ट नहीं पाये जाते परन्तु एक विलक्षण ही रूप मिलता है जिससे कितने एक संयुक्ताक्षरों का पढ़ना अभी तक संशययुक्त ही है। बौद्धों के प्राकृत पुस्तक, जिनमें स्वरों के ह्रस्व दीर्घ का विशेष भेद नहीं रहता था और जिनमें संयुक्ताक्षरों का प्रयोग विरल ही होता था, इसमें लिखे हुए मिले हैं, परन्तु यह लिपि संस्कृत ग्रंथों के लिखने के योग्य नहीं थी। शुद्धता और संपूर्णता के विचार से देखा जावे तो इसमें और ब्राह्मी में उतना ही अन्तर पाया जाता है जितना कि इस समय छपी हुई नागरी की पुस्तकों तथा राजपूताने के अधिकतर रजवाड़ों के मामूली पढ़े हुए अहल्कारो की लिखावटों मे।

ई. स. की तीसरी शताब्दी के आस पास तक इस लिपि का कुछ प्रचार पंजाब में बना रहा, जिसके बाद यह इस देश में से सदा के लिए अस्त हो गई और इसका स्थान ब्राह्मी ने ले लिया, तो भी हिंदुकुश पर्वत से उत्तर के देशों तथा चीनी तुर्किस्तान आदि में, जहाँ बौद्ध धर्म और भारतीय सभ्यता दृढ़ हो रही थी, कई शताब्दी पीछे तक भी इस लिपि का प्रचार बना रहा। प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता डॉ. सर ऑरल स्टाइन् ने चीनी तुर्किस्तान आदि प्रदेशों से असाधारण श्रम कर जो प्राचीन वस्तुएं एकत्रित की हैं उनमें इस लिपि में लिखे हुए पुस्तक और लकड़ी की लिखित तख्तियां आदि बहुमूल्य सामग्री भी है।

गुप्तलिपि

ई. स. की चौथी और पांचवीं शताब्दी (लिपिपत्र 16–17)

गुप्तों के राज्य के समय सारे उत्तरी भारत में ब्राह्मी लिपि का जो परिवर्तन रूप प्रचलित था उसका कल्पित[1] नाम 'गुप्तलिपि' रक्खा गया है। यह लिपि गुप्तवंशी राजाओं के, जो उत्तरी भारत के बड़े हिस्से के स्वामी थे, लेखों में, एवं उनके समकालीन परिव्राजक और राजर्षितुल्य वंशियों तथा उच्छकल्प के महाराजाओं के दानपत्रादि में जो अधिकतर मध्यभारत से और कुछ मध्यप्रदेश में मिले हैं, पाई जाती है। ऐसे ही उक्त समय के अन्य राजवंशियों तथा साधारण पुरुषों के लेखादि में भी मिलती है। राजपूताना,[2]

---

1. गुप्तलिपि का ही नहीं परन्तु पृ. 42-44 में ब्राह्मीलिपि के विभागों के जो नाम रक्खे गये हैं वे बहुधा सब ही कल्पित हैं और अक्षरों की आकृति, देश या उन लिपियों से निकली हुई वर्तमान लिपियों के नामों से ही उनके नामों की कल्पना की गई है। इसी तरह उनके लिये जो समय माना गया है वह भी आनुमानिक ही है क्योंकि कई अक्षरों के वे ही रूप अनुमान किये हुए समय से पहिले और पीछे भी मिलते हैं।

2. राजपूताने में बहुधा लेख उत्तरी शैली के ही मिलते हैं परन्तु गंगधार (झालावाड़ राज्य में) से मिला हुआ वि. सं. 480 (ई. स. 423) का लेख (फ्ली ; गु. इ. ; लेखसंख्या 17), जो विश्ववर्मन् का है, दक्षिणी शैली की लिपि का है और बयाने (भरतपुर राज्य में) के बिजे (विजयगढ़) में विष्णुवर्धन के पुंडरीक यज्ञ के यूप (=स्तम्भ) पर खुदे हुए लेख (फ्ली; गु. इ. ; लेख संख्या 59) में, जो वि. सं. 428 (ई. स. 372) का है, दक्षिणी शैली का कुछ मिश्रण पाया जाता है।

मध्यभारत[1] व मध्यप्रदेश[2] में गुप्तकाल में भी कहीं कहीं दक्षिणी शैली की (पश्चिमी) लिपि भी मिल जाती है, जिसका एक कारण यह भी है कि लेख को लिखने के लिये बहुधा सुन्दर अक्षर लिखनेवाला पसन्द किया जाता है और वह जिस शैली की लिपि का ज्ञाता होता है उसी मे लिखता है । देशभेद और समय के साथ भी अक्षरों की आकृति में कुछ अन्तर पड़ ही जाता है और उसी के अनुसार लिपियों के उपविभाग भी किये जा सकते है परन्तु हम उनकी आवश्यकता नहीं समझते।

गुप्तों के समय में कई अक्षरों की आकृतियां नागरी से कुछ कुछ मिलती हुई होने लगी । सिरों के चिह्न जो पहिले बहुत छोटे थे बढ़ कर कुछ लंबे बनने लगे और स्वरों की मात्राओं के प्राचीन चिह्न लुप्त हो कर नये रूपों में परिणत हो गये हैं ।

---

1. मध्य भारत में भी गुप्तकाल के लेख बहुधा उत्तरी शैली के ही मिलते हैं परन्तु कहीं कहीं दक्षिणी शैली के भी मिल जाते हैं, जैसे कि चन्द्रगुप्त (दूसरे) का सांची का लेख (फ्ली ; गु इं; लेखसंख्या 5); नरवर्मन् का मन्दसोर से मिला हुआ मालव (विक्रम) सं. 461 का (ए इं; जि. 12, पृ. 320-21) और कुमार गुप्त के समय का मालव (विक्रम) सं. 529 का (फ्ली ; गु इं ; लेखसंख्या 18) लेख । उदयगिरि से मिला हुआ चंद्रगुप्त (दूसरे) के समय का एक लेख (फ्ली ; गु. इं ; लेखसंख्या 6) उत्तरी शैली की लिपि का है, परन्तु वहीं से मिला हुआ उसी राजा के समय का दूसरा लेख (फ्ली ; गु. इं ; लेखसंख्या 3) दक्षिणी शैली का है और वहीं से मिले हुए तीसरे लेख की (फ्ली ; गु. इं ;लेखसंख्या 61). जो गुप्त संवत् 106 (ई. स 425-6) का है, लिपि उत्तरी शैली की होने पर भी उसमें दक्षिणी शैली का कुछ कुछ मिश्रण पाया जाता है । इस प्रकार एक ही स्थान के लेखों मे भिन्न शैली की लिपियों का मिलना यही बतलाता है कि उनके लेखक भिन्न लिपियों के ज्ञाता थे न कि देशभेद ही इस अन्तर का कारण था ।

2. मध्यप्रदेश में भी गुप्तों के समय उत्तरी शैली की लिपि का प्रचार था परन्तु कोई कोई लेख दक्षिणी शैली के भी मिल जाते हैं ; जैसा कि एरण में मिला हुआ समुद्रगुप्त के समय का लेख (फ्ली ; गु. इं ; लेखसंख्या 2), परन्तु वहीं से मिले हुए बुधगुप्त और गोपराज के लेख उत्तरी शैली के हैं (फ्ली ; गु. इं ; लेखसंख्या 19 और 20) ।

कुटिल लिपि

ई. स. की छठी से नवीं शताब्दी (लिपिपत्र 18 से 23)

ई. स. की छठी से नवीं शताब्दी तक की बहुधा सारे उत्तरी भारतवर्ष की लिपि का, जो गुप्तलिपि का परिवर्तित रूप है, नाम 'कुटिललिपि' कल्पना किया गया है। 'कुटिलाक्षर' नाम का प्राचीन प्रयोग भी मिलता है परन्तु वह भी उसके वर्णों और विशेष कर मात्राओं की कुटिल आकृतियों के कारण रक्खा गया हो ऐसा अनुमान होता है[1]। इस लिपि के अक्षरों के सिर बहुधा ऐसे होते हैं परन्तु कभी कभी छोटी सी आड़ी लकीर से भी वे बनाये जाते हैं। अ, आ, घ, प, म, य, प, और स का ऊपर का अंश दो विभाग वाला होता है और बहुधा प्रत्येक विभाग पर सिर का चिह्न जोड़ा जाता है।

वीसलदेव रासो का निर्माणकाल

नरपति नाल्ह रचित 'बीसलदेव रासो' के निर्माणकाल के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न विद्वानों के मत भिन्न-भिन्न हैं और हस्तलिखित प्रतियों में कही उसका वि. सं. 1073, कही 1077, कही 1272, कहीं 1377 और कही 1773 मे निर्माण होना लिखा मिलता है। श्रीयुत अगरचंद नाहटा ने 'राजस्थानी' (त्रैमासिक पत्रिका, भाग 3, अंक 3) में अपने 'बीसलदेव रासो और उसकी हस्तलिखित प्रतियां' नामक लेख में भिन्न-भिन्न पन्द्रह प्रतियों के आधार पर उसकी रचना के ऊपर दिये हुए भिन्न-भिन्न संवत् दिये है। और उसकी भाषा सौलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी की राजस्थानी भाषा बतलाई है। तथा सोलहवीं शताब्दी मे नरपति नाम के एक जैन कवि के होने का भी संकेत किया है। तिस पर भी उक्त पुस्तक का रचनाकाल अनिश्चित ही रहता है, जिसका निश्चय करना आवश्यक है।

छपे हुए 'बीसलदेव रासो' में, जो काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया है, उसका रचना काल —

बारह सै बहतरां[1] हां मंझारि ।[2]
जेठ बदी नवमी बुध वारि ।।

1– उक्त पुस्तक के सम्पादक ने 'बारह सै बहत्तरां' का अर्थ 1212 किया है (बीसलदेव रासो की भूमिका; पृ. 8) और कुछ विद्वान ऐसा ही मानते भी है। परन्तु यह ठीक नही है, क्योंकि राजस्थानी भाषा में 'बहत्तरां' का अर्थ 12 नही, 72 होता है।

2– बीसलदेव रासो (नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित) पृ. 4, छन्द 9।

अर्थात् वि. सं. 1272 ज्येष्ठ बदि 9 बुधवार दिया है। राजपूताने में पहले विक्रम संवत् कहीं चैत्रादि (चैत्रसुदि 1 से प्रारम्भ होनेवाला) और कहीं कार्तिकादि (कार्तिक सुदि 1 से प्रारम्भ होने वाला) चलता था, जैसा कि वहां से मिलने वाले शिलालेखों, दानपत्रों और पुस्तकों से पाया जाता है[1]। चैत्रादि वि.सं. 1272 ज्येष्ठ वदि 9 को शुक्रवार था और कार्तिकादि वि. सं. के अनुसार अर्थात् चैत्रादि 1273 मे उक्त तिथि को बुधवार आता है। यह प्रति जयपुर से प्राप्त वि. सं. 1669 की लिखी हुई प्रति के आधार पर सम्पादित हुई है। नाहटाजी की वि. स. 1724 को लिखि हुई प्रति नं. 1 मे भी यही सवत् दिया है[2], इसलिए उस पर अलग विचार करने की आवश्यकता नही।

उनकी प्रति संख्या 2 में —

> संवत् सहस सतिहुतरइ जाणि·······
> सुकल पख पचम श्रावण मास
> रोहिणी नक्षत्र[3]···············

अर्थात् वि. सं. 1077 श्रावण सुदि 5 रोहिणी नक्षत्र दिया है। इसमें वार नही है। चैत्रादि संवत् के अनुसार वि. सं. 1077 श्रावण सुदि 5 को बुधवार और हस्त नक्षत्र था और कार्तिकादि संवत् के अनुसार उक्त तिथि को सोमवार और हस्त नक्षत्र आता है। यह संवत् भी नक्षत्र की विभिन्नता के कारण ग्राह्य नही हो सकता। प्रति नम्बर 8, 11 और 12 मे केवल 'संवत् सहस तिहुतरइ' अर्थात् वि. सं. 1073 ही दिया है[4]। मास, पक्ष, तिथि, वार आदि कुछ नही है; इसलिये उनके सम्बन्ध मे जाच नही हो सकती। प्रति

1- राजपूताना के राज्यों में कहीं आषाढसुदि 1, कहीं सावणवदि 1 और कहीं भाद्रपदसुदि 2 से वर्षारंभ मानते हैं, परन्तु ये राजकीय हिसाब के लिये हैं। जन-साधारण मे पंचाग के अनुसार, ब्राह्मणादि मे चैत्रादि और व्यापारी वर्ग मे बहुधा कार्तिकादि संवत् का ही प्रचार अधिकता से पाया जाता है।

2- राजस्थानी (त्रैमासिक पत्रिका); भाग 3, पृ. 20।

वही; भाग 3, अंक 3, पृष्ठ 20।

: भाग 3, अंक 3, पृष्ठ 10।

गाथा 10 में 'संवत् सतर तिहोतरे' अर्थात् वि.सं. 1773 दिया है।[1] जिस पर विचार करना निरर्थक है, क्योंकि जयपुर की वि. सं. 1679 फाल्गुन वदि 1 की लिखी हुई प्रति मिल गई है।

प्रति गाथा 13 में—

> संवत तेर सत्तोतरइ जाणि.........
> सुकल पंचमी नइ श्रावणमास
> हस्त नक्षत्र रविवार सु
> शुभ दिन जोगो रे जोड़ियत रास[2]

अर्थात् वि. सं. 1377 श्रावण सुदि 5 हस्त नक्षत्र रविवार दिया है। चैत्रादि संवत् के अनुसार वि. सं. 1377 श्रावणसुदि 5 को हस्त नक्षत्र और शुक्रवार था तथा कार्तिकादि संवत् के अनुसार उक्त तिथि को चित्रा नक्षत्र और गुरुवार आता है। इस तरह यह संवत् भी अशुद्ध ठहरता है।

इन सब संवतों में कार्तिकादि संवत् मानकर वार आदि का मिलान करने से छपी हुई पुस्तक और नाहटाजी की प्रति नं. 1 के संवत्, मास, पक्ष, तिथि और वार आदि मिल जाते है, शेष के नहीं। ऐसी दशा में अब तक मिली हुई उक्त पुस्तक की हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर कार्तिकादि वि. सं. 1272 (चैत्रादि 1273) ही उसका रचनाकाल मानना पड़ता है।

अब हम ग्रन्थ की भीतरी बातों पर विचार करेंगे। अजमेर और सांभर के चौहानों में विग्रहराज नाम के, जिनको बीसलदेव भी कहते थे[3], चार राजा

1– वही; भाग 3, पृष्ठ 20।

2– राजस्थानी (त्रै. प.); 3, पृष्ठ 20–21।

3– आर्यावर्त्तं यथार्थं पुनरपि कृतवान्म्लेछविच्छेदनाभी:
देव: शाकंभरीन्द्रो जगति विजयते वीसलक्षोणिपाल: ।।1।।
ब्रूते संप्रति चाहमानतिलक: शाकंभरीभूपति:
श्रीमद्विग्रहराज एष विजयी संतानजानात्मन: ।।2।।

दिल्ली के फिरोजशाह की लाट पर चौहान राजा बीसलदेव (विग्रहराज 4) के वि. सं. 1220 वैशाख सुदि 15 गुरुवार के लेख से।

हुआ। प्रत्येक राजा का औसत राज्य-समय पन्द्रह वर्ष मानने से विग्रहराज द्वितीय से दस पीढ़ी पूर्व अर्थात् वि. सं. 880 के लगभग होगा[1]। बीसलदेव द्वितीय (विग्रहराज) वि. सं. 1030 में विद्यमान था, जिसने गुजरात के सोलंकी राजा मूलराज पर चढ़ाई की थी। विग्रहराज तृतीय था, जो विग्रहराज द्वितीय से आठवीं पीढ़ी में हुआ, समय वि. सं. 1150 के लगभग होना चाहिये। यह परमार राजा भोज के भाई उदयादित्य का समकालीन था, जो वि. सं. 1116[2] में मालवा की गद्दी पर बैठा था और जिसके समय के वि. सं. 1137[3] और 1143[4] के शिलालेख मिल गये हैं। विग्रहराज तृतीय की सहायता पाकर उदयादित्य ने गुर्जर देश के सोलंकी राजा कर्ण को जीता था। कर्ण के दानपत्र *वि. सं. 1131*[5] *और 1148*[6] *के मिले हैं। विग्रहराज चतुर्थ ने वि. सं. 1210* में 'हरकेलि नाटक' समाप्त किया था और वि. सं. 1220 तक के उसके कई शिलालेख मिल गये हैं।

'बीसलदेव रासो' में बीसलदेव के पूर्वजों की कोई वंशावली नहीं दी है; जिससे यह निर्णय नहीं होता कि वह उक्त चारों बीसलदेवों में से किससे सम्बन्ध रखता है। 'बीसलदेव रासो' में कवि ने मुख्यतया दो घटनाओं का वर्णन किया है— एक तो बीसलदेव के राजा भोज की पुत्री से विवाह होने की और दूसरी उस (बीसलदेव) के उड़ीसा जाने की। जहां तक पहली घटना का सम्बन्ध है, बीज रूप में उसमें सत्य का अंश अवश्य है, परन्तु शेष कथा कल्पित ही प्रतीत होती है, जैसा हम आगे चलकर बतलाएंगे।

1– विग्रहराज द्वितीय वि. स. 1030 और विग्रहराज चतुर्थ वि. सं. 1210 में विद्यमान थे। इन दोनों के बीच *180 वर्षों में बारह पीढ़ियां* हुईं। हिसाब करने से प्रत्येक राजा का औसत राज्य-काल पन्द्रह वर्ष आता है, जो हमने ऊपर माना है।

2– बंगाल एशियाटिक सोसायटी का जर्नल; जि. 9, पृ. 549।

3– *इण्डियन एंटिक्वेरी; जि. 20, पृ. 83*।

4– यह लेख झालरापाटन म्यूजियम में सुरक्षित है। बंगाल एशियाटिक सोसायटी का जर्नल, जि. 10, पृ. 241।

5– जर्नल आफ दि बाम्बे ब्रांच आव् रायल एशियाटिक सोसायटी; जि. 26, पृ. 257।

6– एपिग्राफिया इंडिका, जि. 1, पृ. 317–18।

'वीसलदेव रासो' में लिखा है कि वीसलदेव की रानी राजमती परमार राजा भोज की पुत्री थी। परमार राजा भोज उदयादित्य का बड़ा भाई था और उस (भोज) ने चौहान राजा वाक्पतिराज (द्वितीय) के छोटे भाई वीर्यराम को युद्ध में मारा था, जिससे सम्भव है मालवा के परमारों और सांभर के चौहानों में अनबन हो गई हो। राजपूतों में ऐसी अनबन पुत्री विवाहने से मिटती थी, जिसके अनेक उदाहरण उनके इतिहास में मिलते हैं। पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के बीजोल्यां के शिलालेख में दी हुई चौहानों की वंशावली में विग्रहराज (तृतीय) की रानी का नाम राजदेवी दिया है[1]।

'वीसलदेव रासो' की राजमती और यह राजदेवी नाम एक ही रानी के सूचक होने चाहिएं। परमार राजा भोज के अन्तिम समय उसके राज्य पर बड़ी आपत्ति आई और गुजरात के सोलंकी राजा भीमदेव (प्रथम) तथा चे- के राजा कर्ण ने उस पर चढ़ाई की। इस चढ़ाई के समय ही उसकी मृत्यु गई। उसके पीछे उसका पुत्र जयसिंह परमार राज्य का स्वामी हुआ, जिस समय का वि. सं. 1112[2] का एक दानपत्र और 1116[3] का एक शिलाले- पाणाहेड़ा (बांसवाड़ा राज्य) से मिला है। उसका उत्तराधिकारी उसका भा- उदयादित्य हुआ, जिसने अपने राज्य की स्थिति दृढ़ की।

उसने चौहानों के साथ का अपना वैर मिटाने के लिये अपनी भतीजी (भोज की पुत्री) राजदेवी अथवा राजमती का विवाह वीसलदेव तृतीय से किया हो, जिससे पीछे से गुजरात वालों के साथ की लड़ाई में उसे उस (वीसलदेव तृतीय) की सहायता प्राप्त हुई हो। इससे तो यही अनुमान दृढ़ होता है कि 'वीसलदेव रासो' का नायक चौहान राजा वीसलदेव तृतीय है, न कि चतुर्थ, जैसा प्रकाशित पुस्तक के सम्पादक ने मान लिया है एवं कुछ अन्य विद्वान भी मानते हैं।

1– चामुंडोऽवनिपेति राणकवरः श्रीसिंघटो दूसल-
स्तद्भ्रातास्य ततोऽपि वीसलनृपः श्रीराजदेविप्रियः ॥14॥
बंगाल एशियाटिक सोसायटी का जर्नल; जि. 55, भाग 1 (सन् 1886) पृ. 41।

2– एपिग्राफिया इंडिका; जिल्द 3, पृ. 48।

3– राजपूताना म्यूजियम अजमेर की रिपोर्ट; ई. स. 1916-17, पृ. 2।

'बीसलदेव रासो' का रचनाकाल वि. सं. 1212 मानकर उसके नायक को बीसलदेव चतुर्थ और उसके रचयिता नरपति नाल्ह को उसका समकालीन कवि मानना भ्रमपूर्ण कल्पना ही प्रतीत होती है, जैसा कि ऊपर लिखा गया है। 'बीसलदेव रासो' का रचनाकाल कार्तिकादि वि. स. 1272 (चैत्रादि 1273) होना चाहिए, न कि 1212 और उसका नायक बीसलदेव तृतीय, न कि बीसलदेव चतुर्थ। नरपति को भोज की पुत्री से बीसलदेव का विवाह होने की बात ज्ञात थी। इसी के आधार पर उसने इस घटना से लगभग 150 से भी अधिक वर्षों बाद अपने काव्य की रचना की। यह विवाह कब हुआ, इसका ठीक-ठीक पता उसे न था, पर वह भोज की पुत्री होने से उसने उसके समय में ही विवाह होना लिख दिया।

अपने काव्य को लोकप्रिय और रोचक बनाने तथा नायक की महत्व-वृद्धि के निमित्त काव्य में वर्णित अन्य घटनाओं में उसने कल्पना का आश्रय लिया। विवाह के समय भोज का आजमेर, कुम्भाण, मंडोवर, सौराष्ट्र, गुजरात, सांभर, टोडा, टोक, चित्तौड़ आदि देश बीसलदेव को देना कोरी कवि-कल्पना ही है। जैसलमेर, अजमेर, आनासागर आदि उक्त काव्य की रचना के समय अर्थात् चैत्रादि वि. स. 1273 में विद्यमान थे। कवि ने उनके नाम भी उसमें समाविष्ट कर दिये। अनेक नामों की भरमार के ऐसे उदाहरण प्राचीन काव्यों में स्थल-स्थल पर मिलते हैं।

उड़ीसा जाने की कथा भी कल्पित ही ठहरती है, क्योंकि चारों बीसलदेवों में से किसी के भी उड़ीसा विजय करने का प्रमाण नहीं मिलता। बीसलदेव का अपने भतीजे को अपना उत्तराधिकारी नियत करने की घटना भी कल्पना-मात्र ही है।

कवि ने अपने काव्य में सब जगह वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग किया है, इससे भी कुछ विद्वानों का अनुमान है कि वह बीसलदेव का समकालीन था, परन्तु यह कोई जरूरी बात नहीं कि वर्तमान-कालिक क्रिया का प्रयोग करने वाला कवि समकालीन ही हो। काव्य में वर्णित घटनाओं को सत्य रूप देने के लिये बहुधा कवियों ने इस शैली का प्रयोग किया है। नरपति बीसलदेव का समकालीन नहीं, बल्कि, उससे 150 से भी अधिक वर्ष पीछे हुआ था।

श्रीयुत नाहटाजी ने 'बीसलदेव रासो' की भाषा के विषय में संदेह प्रकट करते हुए उसे सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी की राजस्थानी भाषा माना है। यद्यपि

पीछे से मूल रासो में बहुत कुछ हेर-फेर हुआ है. फिर उसमें प्राचीनता के चिह्न वर्तमान हैं' जिससे यह स्पष्ट है कि वह वि. सं. 1200–1300 के आसपास ही रचा गया होगा। नीचे हम उसी समय की भाषा के कुछ उदाहरण देते हैं, जिसके साथ 'बीसलदेव रासो' की भाषा का मिलान करने पर इस विषय में संदेह को स्थान न रहेगा।

(1) पुत्तें जाएँ कवणु गुणु अवगुणु कवनु मुएण।
जा बप्पी की भुंहडी चम्पिज्जइ अवरेण॥

(2) जेंवडु अंतरू रावण रामहँ तेवडु अंतरु पट्टण गामहँ।

(3) जा मति पच्छइ संपज्जइ सा मति पहिली होइ।
मुंज भणइ मुणालवइ विघन न वेढइ कोइ॥

(4) जइ यह रावणु जाईयउ दहमुह इक्कु सरीरु।
जणणि वियंभी चिंतवइ कवणु पियावउ खीरु॥

(5) राणा सव्वे वाणिया जेसलु वड्डउ सेठि।
काहूं वणिजडु मांडीयउ अम्मीणा गढ हेठि॥

(6) वाढी तो वढवाण वीसारतां न वीसरइ।
सोना समा पराण भोगावइ पइं भोगवइ॥

(7) नवजल भरीया मग्गड़ा गयणि घडक्कई मेहु।
इत्थंतरि जरि आविसिइ तऊ जाणीसिइ नेहु॥

इनमें से सं. 1 और 2 के उदाहरण अनेक विषयों के प्रकांड विद्वान् प्रसिद्ध हेमचंद्राचार्य-रचित अपभ्रंश भाषा के व्याकरण से लिये गये हैं, जो वि. सं. 1200 के आसपास बना था और सं. 3, 4, 5, 6 और 7 के उदाहरण 'प्रबंधचिंतामणि' से हैं, जो जैन आचार्य मेरुतुंग ने वि. सं. 1361 में वढवाण में बनाई थी। इन पुस्तकों में ये उदाहरण के रूप में दिये गये हैं, अतएव निश्चित है कि ये इनके निर्माणकाल से पूर्व की रचनाओं से लिए गए हैं।

भाषा में अन्तर होना स्वाभाविक ही है। भाषा की कसौटी सदियां नहीं हैं। एक ही समय में कोई सरल भाषा में अपनी रचना करता है, तो कोई कठिन भाषा का प्रयोग करता है।

'बीसलदेव रासो' के कर्त्ता ने उसकी रचना का समय प्रारम्भ में दिया है, इससे श्रीयुत नाहटाजी ने यह अनुमान किया है कि उसने मुसलमानी प्रथा का अनुसरण किया है; क्योंकि उनके मतानुसार यह प्रथा मुसलमानों के समय में ही प्रारम्भ हुई और उसके पहले कवि अथवा लेखक ग्रंथ-रचना का समय अन्त में दिया करते थे; परन्तु यह केवल अनुमान ही है। रचना का समय ग्रंथ के किसी अंश में देने की पहले कोई प्रथा हो, ऐसा पाया नहीं जाता। यह तो रचयिता की रुचि का प्रश्न था। जहां पहले के अनेक ग्रंथों में रचना का समय अन्त में मिलता है, वहां कई में प्रारम्भ में भी पाया जाता है और कितने ही ग्रंथों में तो रचना का समय ही नहीं दिया है।

जैन कवि मान रचित 'राजविलास' नामक ग्रंथ में भी उसकी रचना का समय प्रारम्भ में ही स्तुतियों के बाद दिया है, पर इससे यह कहना अनुचित है कि उसने मुसलमानी प्रथा का अनुसरण किया था। ऐसे उदाहरण और भी मिल सकते हैं।

इन सब बातों पर विचार करने से हमारा मत तो यही है कि 'बीसलदेव रासो' मूल रूप से कार्तिकादि वि. सं. 1272 (चैत्रादि 1273) की ही रचना होनी चाहिये और उसका आधार बीसलदेव तृतीय के साथ भोज की पुत्री राजदेवी अथवा राजमती के विवाह की घटना है। नरपति न तो इतिहासज्ञ था और न कोई बड़ा कवि ही। उसने अपनी रचना लोक-रंजनार्थ बनाई थी। इसलिए उसमें ऐतिहासिकता और काव्य के गुणों की तलाश करना तथा इसके आधार पर उसके बारे में कोई मत स्थिर करना [illegible]

पद्मावत का सिंहलद्वीप

मलिक मुहम्मद जायसी ने पद्मावत की बड़ी मनोरंजक कथा लिखी, जिसका आधार तो ऐतिहासिक घटना है, किन्तु ऊपर की भित्ति अपनी रचना को रोचक बनाने के लिये विशेषकर कल्पना से खड़ी की गई है। उसमें लिखा है कि 'सिंहल द्वीप' (सिंहल, लंका) में गधवसेन (गंधर्वसेन) नाम का राजा था। उसकी पटरानी चंपावती से पद्मावती (पद्मिनी) नाम की एक अलौकिक रूपवती कन्या उत्पन्न हुई। उसके पास हीरामन नाम का एक सुन्दर और चतुर तोता था। एक दिन वह पिंजरे से उड़ गया और एक बहेलिए द्वारा पकड़ा जाकर एक ब्राह्मण के हाथ बेचा गया। उस (ब्राह्मण) ने उसको चित्तौड़ के राजा रतनसिंह (रत्नसिंह) को एक लाख रुपये में बेचा।

रतनसेन की रानी नागमती ने एक दिन शृंगार कर तोते से पूछा— क्या मेरे जैसी सुन्दरी जगत् में कोई है? इस पर तोते ने उत्तर दिया कि जिस सरोवर में हंस नहीं आया, वहां बगुला भी हंस कहलाता है। रतनसेन तोते के मुख से पद्मिनी के रूप, गुण आदि की प्रशंसा सुनकर उस पर मुग्ध हो गया और योगी बनकर तोते सहित सिंहल को चला। अनेक राजकुमार भी उसके चेलों के रूप में उसके साथ हो लिये। अनेक संकट सहता हुआ राजा सिंहल में पहुंचा।

तोते ने पद्मावती के पास जाकर रतनसेन के रूप, कुल, ऐश्वर्य, तेज आदि की प्रशंसा कर कहा कि तेरे योग्य वर तो यही है और वह तेरे प्रेम से मुग्ध होकर यहां आ पहुंचा है। वसंत पंचमी के दिन वह बन-ठन कर उस मन्दिर में गई, जहां रतनसेन ठहरा हुआ था। वहां वे दोनों एक-दूसरे को देखते ही परस्पर प्रेम-बद्ध हो गए, जिससे पद्मिनी ने उसीसे विवाह करना ठान लिया। अन्त में गंधर्वसेन ने उसके वंश आदि का हाल जानने पर अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ कर दिया और रतनसेन बड़े आनन्द के साथ कुछ समय रहा।

उधर चित्तौड़ में उसकी वियोगिनी रानी नागमती ने अपने पति की राह देखते हुए एक वर्ष बीत जाने पर एक पक्षी के द्वारा अपने दुःख का संदेश राजा के पास पहुँचाया। इस पर वह वहाँ से विदा होकर अपनी रानी सहित चला और समुद्र के भयंकर तूफान आदि आपत्तियाँ सहता हुआ अपनी राजधानी को लौटा। राघवचेतन नाम के एक ब्राह्मण ने पद्मिनी के रूप की तारीफ दिल्ली जाकर सुलतान अलाउद्दीन से की, जिस पर वह (अलाउद्दीन) चित्तौड़ पर चढ़ आया। गोरा, बादल आदि अनेक सामन्तों सहित रत्नसिंह मारा गया और पद्मिनी उसके साथ सती हुई।

इस कथा में 'सिंहल द्वीप' का समुद्र के बीच होना बतलाया है और उसी को 'लंका' भी कहा है। अब हमें यह निश्चय करना आवश्यक है कि पद्मावत का सिंहल द्वीप वास्तव में समुद्र-स्थित लंका है, अथवा जायसी ने भ्रम में पड़कर किसी अन्य स्थान को समुद्र-स्थित लंका मानकर अपने वर्णन को मनोहर बनाने का उद्योग किया है? इसका निश्चय करने के पूर्व हमें चित्तौड़ के स्वामी रत्नसिंह के राजत्व-काल की ओर दृष्टि डालना आवश्यक है।

रत्नसिंह चित्तौड़ के रावल समरसिंह का पुत्र था। रावल समरसिंह के समय के 8 शिलालेख अब तक मिले हैं, जिनमें सबसे पहला वि. सं 1330 कार्तिकसुदि 1 का चीरवेगांव का और अन्तिम वि. सं 1358 माघसुदि 10 का चित्तौड़ का है। इन शिलालेखों से निश्चित है कि वि स 1358 माघसुदि 10 तक तो समरसिंह जीवित था।

रत्नसिंह के समय का केवल एक शिलालेख वि. स. 1359 माघसुदि 5 बुधवार का उदयपुर —चित्तौड़ रेलवे के कांकरोली रोड़ स्टेशन से 8 मील दूर दरीबा स्थान के माता के मन्दिर के स्तम्भ पर खुदा हुआ है। इन लेखों से निश्चित है कि समरसिंह की मृत्यु और रत्नसिंह का राज्याभिषेक वि. स. 1358 माघसुदि 10 और वि. स. 1359 माघसुदि 5 के बीच किसी समय होना चाहिये।

रत्नसिंह को राज्य करते हुए एक वर्ष भी नहीं होने पाया था कि पद्मिनी के वास्ते चित्तौड़ की चढ़ाई के लिये सुलतान अलाउद्दीन ने सोमवार ता. 8 जमादिउस्सानी हि. स. 702 (वि. सं. 1359 माघ सुदि 9=ता. 28 जनवरी, ई. स. 1303) को प्रस्थान किया, छः महीने के करीब लड़ाई होती रही, जिसमें रत्नसिंह मारा गया और सोमवार ता. 11 मुहर्रम हि. स. 703 (वि स. 1360

भाद्रपद सुदि 14=ता. 26 अगस्त ई. सं. 1303) को अलाउद्दीन का चि
पर अधिकार हो गया।

रत्नसिंह लगभग एक वर्ष ही चित्तौड़ का राजा रहा, उसमें भी अन्तिम
मास तो अलाउद्दीन के साथ लड़ता रहा। ऐसी स्थिति में उसका सिंहल (लं
जाना, वहाँ एक वर्ष तक रहना और पद्मिनी को लेकर चित्तौड़ लौटना सर्व
असम्भव है, अतएव जायसी का सिंहल द्वीप (सिंहल) लंका का सूचक न
हो सकता।

काशी की नागरीप्रचारिणी सभा-द्वारा प्रकाशित जायसी ग्रंथावली (पद्माव
और अखरावट) के विद्वान सपादक पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी भूमिका
लिखा है 'पद्मिनी क्या सचमुच सिंहल की थी ? पद्मिनी सिंहल की हो न
सकती। यदि सिंहल नाम ठीक मानें तो वह राजपूताने या गुजरात का को
स्थान होगा[1]।' उक्त विद्वान् का यह कथन बहुत ठीक है और उसका प
लगाना आवश्यक है। उक्त भूमिका में गोरा बादल के विषय में यह भी लिख
है कि गोरा पद्मिनी का चाचा लगता था और बादल गोरा का भतीजा था[2]। कर्न
टॉड ने गोरा और बादल को सीलोन (सिंहल) के राजा के कुटुंबी बतलाया है
और गोरा को पद्मिनी का चाचा तथा बादल को गोरा का भतीजा लिखा है[3]।
ऐसा ही मेवाड़ की ख्यातों में भी लिखा मिलता है।

गौर (गोरा) नाम का वंश वि. सं. 547 से वि. सं. 1545 तक मेवाड़ में
विद्यमान था, जैसा कि 'गौर नामक अज्ञात क्षत्रियवंश' शीर्षक मेरे लेख में
बतलाया जा चुका है। गोरा बादल दो नाम नहीं किन्तु राठौड़ दुर्गादास,
सीसोदिया पत्ता आदि के समान एक नाम होना सम्भव है, जिसका पहला अंश
उसके वंश का सूचक और दूसरा व्यक्तिगत नाम है। पिछले लेखकों ने प्राचीन
इतिहास के अंधकार एवं गौरवंश का नाम भूल जाने के कारण गोरा और बादल
दो नाम बना लिए। चित्तौड़ से करीब 40 मील पूर्व में सिंगोली नामक प्राचीन

---

1. जायसी-ग्रन्थावली; काशी नागरी-प्रचारिणी सभा का संस्करण, भूमिका,
   पृ. 29।
2. वही; पृष्ठ 25।
3. टॉड राजस्थान जिल्द 1; पृ. 282 (कलकत्ता सं.)।

स्थान है, जिसके विस्तृत खंडहर और प्राचीन किले के चिह्न अब तक विद्यमान हैं, अतएव पद्मिनी का पिता सिंगोली का स्वामी होगा। सिंगोली और सिंहल (सिंहल द्वीप) नाम परस्पर मिलते हुए होने के कारण पद्मावत के रचयिता ने भ्रम में पड़कर सिंगोली को सिंहल (सिंहल द्वीप) मान लिया हो, यह सम्भव है। रत्नसिंह के राज्य करने का जो अल्प समय निश्चित है उससे यही माना जा सकता है कि उसका विवाह सिंहल द्वीप अर्थात लंका के राजा की पुत्री से नहीं, किन्तु सिंगोली के सरदार की कन्या से हुआ हो।

ना. प्र. प. (त्रै न. स),
भाग 13, ई स 193 -33

राजपूताना में शिव-मूर्तियां

एकेश्वरवादी होने के कारण वैदिकधर्मावलम्बी भारतवासी अत्यन्त प्राचीन काल से एक ही ईश्वर को सृष्टि का उत्पादक, पालक एवं संहारक मानते आ रहे हैं। ईश्वर के भिन्न-भिन्न कार्यों के अनुसार उसके भिन्न-भिन्न नामों की कल्पना की गयी ; परन्तु ये सब नाम एक ही ईश्वर के द्योतक हैं। ईश्वर द्वारा जगत् की उत्पत्ति, पालन और संहार होने से उनके क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र (शिव) नाम रक्खे गये। पहले ईश्वर के निर्गुण स्वरूप की उपासना होती थी ; पीछे उसकी भिन्न-भिन्न प्रकार की मूर्तियां बनने लगीं। मूर्तियों की कल्पना में मनुष्य की बुद्धि अपने से अधिक सुन्दर वस्तु उत्पन्न नहीं कर सकती थी, तो भी देव मूर्तियों की कल्पना करते समय मनुष्य को अपनी अपेक्षा कुछ विशेषता प्रदर्शित करने की आवश्यकता जान पड़ी। देव-प्रतिमाओं की कल्पना में शरीर की आकृति तो मनुष्य जैसी ही मानी गयी, परन्तु कहीं-कहीं हाथों और मुखों की संख्या बढ़ा कर उनमें विशेषता उत्पन्न की गयी।

भारतवर्ष के जलवायु में हजारों वर्ष पूर्व के मन्दिरों अथवा मूर्तियों का अक्षुण्ण रहना सम्भव नहीं है। यही कारण है कि यहां अत्यन्त प्राचीनकाल की मूर्तियां उपलब्ध नहीं होतीं। ऐसी दशा में यह स्पष्टरूप से नहीं जान पड़ता कि प्रारम्भ में मूर्तियां द्विभुज बनायी जाती थीं अथवा चतुर्भुज। अब तक ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य आदि देवताओं की जो मूर्तियां मिली हैं उनमें ब्रह्मा, विष्णु और शिव चतुर्भुज हैं। सूर्य की सबसे प्राचीन मूर्तियां द्विभुज हैं। अजमेर के 'राजपूताना-म्यूजियम' में सूर्य की दस से अधिक प्राचीन मूर्तियां हैं। उनमें केवल एक चार भुजाओं से युक्त एवं सात घोड़ों के रथ में विराजमान है, परन्तु यह दो सौ वर्ष से अधिक पुरानी नहीं है। शेष सभी द्विभुज हैं। इसी प्रकार आरम्भ में शिव प्रतिमा द्विभुज और एकमुखी बनायी जाती रही हो, यह असम्भव नहीं है। ईस्वी सन् की दूसरी शताब्दी के आसपास के कई सिक्कों पर स्कन्द, विशाख और महासेन की मूर्तियां बनी हुई हैं, जो द्विभुज और

एक सिर वाली हैं। उसी शताब्दी के कुषाणवंशी राजा कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव के कतिपय सिक्कों पर शिवजी की द्विभुज और एक सिर वाली मूर्ति अङ्कित है। उनमें शिव अपने वाहन नन्दी के समीप हाथ में त्रिशूल लिये खड़े हैं। मूर्ति के नीचे प्राचीन यावनी (ग्रीक) लिपि में 'आइशो' (Oesho) अर्थात् ईशो —ईश=शिव लिखा है। इन मूर्तियों से हम यह मान सकते हैं कि पहले शिव की मूर्ति द्विभुज एक सिर वाली रही हो, परन्तु उसी समय के कुछ सिक्कों पर शिव की ऐसी भी मूर्तियां हैं, जिनके एक मुख है और चार हाथ हैं और हाथों में माला, वज्र, त्रिशूल और पात्र दीख पड़ते हैं। इनसे जान पड़ता है कि शिव के चार हाथों की कल्पना भी नवीन नहीं किन्तु उतनी ही प्राचीन है। भारतवर्ष में ईस्वी सन् की पांचवीं शताब्दी के पूर्व की कोई हाथ पैर वाली पाषाण-निर्मित शिव-प्रतिमा अब तक देखने में नहीं आयी।

राजपूताने में शिव-पूजा बहुत प्राचीन काल से चली आती है, और वहां कई प्रकार की शिव-मूर्तियां मिलती हैं। इनमें से बहुत-सी मूर्तियां तो गोलाकार लिङ्ग के रूप में जलहरी (जलाधारी) के मध्य में स्थापित हैं। सम्भवतः वे शिव के 'स्थाणु' नाम की सूचक हों। राजपूताना में कई जगह राजाओं, सरदारों आदि की स्मारक छतरियों तथा साधुओं की समाधियों के मध्य में भी ऐसे लिङ्ग स्थापित किये जाते हैं।

शिव का पांचवां मुख मानते हैं। उसमें नीचे के चारों भागों में मुखों के स्थान पर मूर्तियां बनी हुई हैं। पूर्व में सूर्य की आसीन मूर्ति है, जिसके नीचे सात घोड़े और हाथ में उनकी रास लिए सूर्य का सारथि अरुण दीख पड़ता है। उत्तर की ओर दाढ़ी वाले ब्रह्मा की चतुर्मुख (चौथा मुख अदृश्य है) मूर्ति है पश्चिम की ओर गरुड़ासीन विष्णु और दक्षिण की ओर नन्दी सहित शिव की मूर्ति है। पंचमुखी शिव की मूर्तियों में चारों दिशाओं के मुख इन्हीं चार देवताओं के सूचक होने से यही जान पड़ता है कि ये चारों देवता एक ही ईश्वर के ब्रह्माण्ड स्थित रूप हैं।

कामां से एक बड़ा शिवलिङ्ग मिला है, जिसके उपर का एक इंच बाहर निकला हुआ वृत्ताकार भाग शिव के पांचवें मुख (ब्रह्माण्ड) का प्रदर्शक है। उसके नीचे चारो ओर साधारण शिवलिङ्गों के समान जटा-जूट सहित चार मुख है। पूर्व के मुख के नीचे घुटनों तक लम्बे बूट पहने हुए सूर्य की द्विभुज मूर्ति और उत्तर की ओर दाढ़ी वाले ब्रह्माजी की चतुर्मुख, पश्चिम में विष्णु की चतुर्भुज एवं दक्षिण में नन्दी सहित रुद्र की चतुर्भुज मूर्तियां हैं। ये चारों मूर्तियां ढाई-ढाई फीट ऊंची और खडी हुई हैं, इस शिवलिङ्ग को देखने से यह निश्चय होता है कि इसके चारों दिशाओं के चारों मुख क्रमशः सूर्य, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के द्योतक हैं।

ईस्वी सन् की दूसरी शताब्दी के कुषाणवंशी राजाओं के कुछ सिक्कों पर नन्दी के पास खड़ी हुई द्विभुज, परन्तु चार मुख वाली (चौथा मुख अदृश्य है) शिव की मूर्ति बनी है, जो ऊपर की कल्पनाओं को पुष्ट करती है। इस प्रकार शिव के पांच मुख माने जाने के कारण वे पंचानन, पंचमुख, पंचास्य अथवा पंचवक्त्र आदि नामों से प्रसिद्ध हैं।

जोधपुर राज्य के गोड़वाड़ प्रान्त में सादड़ी गांव से कुछ दूर राणपुर का सुप्रसिद्ध जैन मन्दिर है। उसके निकट ही एक प्राचीन सूर्य मन्दिर है, जिसके गर्भगृह में सूर्य की मूर्ति है और उसके बाहर की ओर ब्रह्मा, विष्णु और शिव की ऐसी मूर्तियां बनी हुई हैं, जिनमें कमर के नीचे का भाग सूर्य का और ऊपर का भाग ब्रह्मा आदि देवताओं का है। ये सारी मूर्तियां 7 घोड़े वाले रथ में बैठी हुई हैं उन्हें देखकर यही अनुमान हो सकता है कि ये सब देवता एक ही ईश्वर के पृथक-पृथक नाम के सूचक हैं। कुछ ऐसी भी मूर्तियां देखने में आयी हैं, जिनमें ब्रह्मा, विष्णु और सूर्य का सम्मिश्रण है। उनके हाथों में धरे हुए भिन्न-भिन्न आयुधों से उनके स्वरूप का निश्चय होता है।

राजपूताना-म्यूजियम में रखी हुई एक विशाल शिला पर ब्रह्मा, विष्णु और शिव की सुन्दर मूर्तियां उनके वाहन सहित बनी हुई हैं। ब्रह्माजी की प्राचीन मूर्तियों के ऊपर के एक किनारे पर विष्णु और दूसरे पर शिव की छोटी-छोटी मूर्तियां रहती हैं। इसी तरह विष्णु की मूर्ति के किनारों पर ब्रह्मा और शिव की तथा शिव की मूर्ति के दोनों ऊपरी पार्श्वों पर ब्रह्मा और विष्णु की मूर्तियां होती हैं। ये सब एक ही ईश्वर के इन तीन रूपों को सूचित करती हैं। उनके रूप भी अलग-अलग माने गये हैं।

राजपूताना म्यूजियम में एक सुविशाल प्राचीन शिवलिङ्ग है, जिस पर ब्रह्मा नीचे (पाताल) से ऊपर (ब्रह्माण्ड में) जाते हुए प्रदर्शित किये गये हैं और एक-एक के ऊपर दो-दो मूर्तियां दीख पड़ती हैं। दूसरी तरफ विष्णु नीचा मुख किये हुए ऊपर से नीचे आ रहे हैं। विष्णु की भी एक-एक के नीचे दो-दो मूर्तियां बनी हुई हैं। ये मूर्तियां अनन्त ब्रह्माण्ड रूप शिवलिङ्ग की थाह लेने के के लिये ब्रह्मा का ऊपर की तरफ और विष्णु का नीचे की ओर जाना सूचित करती है। इससे हम यह मान सकते हैं कि शिवलिङ्ग की कल्पना वस्तुतः अनन्त ब्रह्माण्ड की सूचक है।

जिस समय इन देवताओं की मूर्तियों की कल्पना हुई, उस समय इनकी पत्नियों की कल्पना का होना भी स्वाभाविक था। शिव की पत्नी शिवा, उमा, पार्वती, गौरी, दुर्गा, काली आदि नामों से प्रसिद्ध हुई। राजपूताने में ऐसी बहुत-सी मूर्तियां मिलती हैं। जिनमें शिव नन्दी के ऊपर बैठे हुए हैं और उनकी बायीं जङ्घा पर पार्वतीजी बैठी हैं। इस प्रकार की तीन मूर्तियां राजपूताना-म्यूजियम में विद्यमान हैं। कहीं-कहीं शिव और पार्वती की नन्दी के निकट खड़ी हुई मूर्तियां भी मिलती हैं। शिव-पार्वती के विवाह के दृश्य भी प्रस्तराङ्कित हुए हैं। इनमें आमने-सामने खड़े हुए शिव-पार्वती ऊपरी भाग में विवाह में सम्मिलित होने को आये हुए इन्द्र आदि देवता और मध्य में अग्नि के सामने विवाह कार्य सम्पादित करते हुए चतुर्मुख ब्रह्मा प्रदर्शित हैं। ऐसे दो नमूने राजपूताना म्यूजियम में सुरक्षित हैं।

जब शिव पत्नी की कल्पना हुई, तब शिव और पार्वती दोनों का मिल-कर एक शरीर भी माना जाने लगा—दाहिना भाग शिव का और बायां एक स्तनसहित पार्वती का। ऐसी मूर्तियां 'अर्द्धनारीश्वर' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें शिव के साथ नन्दी और पार्वती के साथ उनका वाहन सिंह दिखलाया जाता है। यह कल्पना भी प्राचीन है। क्योंकि संस्कृत के सुप्रसिद्ध

महाकवि बाणभट्ट के पुत्र पुलिनभट्ट ने 'कादम्बरी' के उत्तरार्द्ध के प्रारम्भ में अर्द्धनारीश्वर की स्तुती की है।[1] कहीं-कही शिव की विशालकाय तीन मुख वाली मूर्ति (त्रिमूर्ति, महेश्वर) भी पायी जाती है। उसके छः हाथ, जटायुक्त तीन सिर और तीन मुख होते हैं, जिनमे से रोता हुआ एक मुख शिव के रुद्र नाम को चरितार्थ करता है। मध्य के दो हाथों में से एक में बिजोरा और दूसरे मे माला, दाहिनी ओर के दो हाथों में से एक में सर्प और दूसरे मे खप्पर और बायीं ओर के हाथों में से एक मे पतले दण्ड-सी कोई वस्तु और दूसरे में ढाल या काच की आकृति का कोई छोटा-सा गोल पदार्थ होता है।

त्रिमूर्ति वेदि के ऊपर दीवार से सटी रहती है और उसमें वक्षःस्थल से कुछ नीचे तक का ही भाग होता है। त्रिमूर्ति के सामने भूमि पर बहुधा शिवलिङ्ग होता है। ऐसी त्रिमूर्तियां चित्तौड़ के किले तथा सिरोही राज्य के कई स्थानों में देखने में आयी है। शिव 'नटराज' कहलाते है और उनकी ताण्डव-नृत्य करती हुई मूर्तियां भी राजपूताना के कई स्थानों में देखने में आयी है।

इस प्रकार शिव की भिन्न-भिन्न मूर्तियां राजपूताने में मिलती हैं। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार शिव-भक्त किसी न किसी रूप में अपने उपास्य की पू[जा] करते हैं।

जिस प्रकार बौद्धों ने 24 अतीत बुद्ध, 24 वर्तमान बुद्ध एवं 24 भा[वी] बुद्ध की और जैनों ने 24 तीर्थङ्करो की तथा वैष्णवों ने 24 अवतारों [की] कल्पना की, उसी तरह शिव के उपासकों ने भी शिव के कई अवतारो [की] कल्पना की; परन्तु उन सब अवतारों की मूर्तियां नहीं मिलतीं। राजपूताने में शिव के लकुलीश (नकुलीश, लकुटीश) अवतार की मूर्तियां बहुत मिलती हैं। 'विश्वकर्मावतारवास्तुशास्त्रम्' नामक ग्रन्थ में लकुलीश-मूर्ति के वर्णन [में] लिखा है—

> न (ल) कुलीशमूर्ध्वमेढ्रं पद्मासनसुसंस्थितम् ।
> दक्षिणे मातुलिङ्गं च वामे दण्डं प्रकीर्तितम् ॥

1— देहद्वयार्धघटनारचितं शरीर-
मेकं ययोरनुपलक्षितमन्धिभेदम् ।
मुग्धेन्दुखण्डपरिशेषमिदं ...
... गिरिसुतापरमेश्वरौ तौ ॥

लकुलीश की मूर्ति ऊर्ध्वमेढ़ (उर्ध्वलिङ्गी) पद्मासन स्थित, दाहिने हाथ में बिजौरा और बायें हाथ में दण्ड (लकुट) लिये होती है। लकुलीश के मन्दिर कई जगह मिलते हैं। लकुलीश-सम्बन्धी देवालयों में उदयपुर-राज्य में एकलिङ्गजी के मन्दिर के पास वि. सं. 1028 का बना हुआ और कोटा-राज्य के प्रसिद्ध कवालजी (कपालेश्वर-मन्दिर) से अनुमान एक मील पर जयपुर की सीमा में आधा गिरा हुआ एक सुविशाल मन्दिर मेरे देखने में आया।

इस सम्प्रदाय के मानने वाले पाशुपत शैव कनफटे साधु होते थे। लकुलीश का अवतार कब हुआ, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता; परन्तु मथुरा से मिले हुए गुप्त संवत् 61 (वि. सं. 437=ई. सं. 380) के लेख से पाया जाता है कि लकुलीश के शिष्य कुशिक की परम्परा में 11वाँ आचार्य उदिताचार्य उक्त संवत् में विद्यमान था, अतः लकुलीश का प्रादुर्भाव ई. स. की दूसरी सदी के अन्त के आसपास होना अनुमान किया जा सकता है।

लकुलीश का प्राकट्य स्थान कायावरोहण, (कायारोहण कारवान, बड़ौदा राज्य में) माना गया है। उनके चार शिष्यों के नाम कुशिक, गर्ग, मित्र और कौरुष्य (लिंगपुराण 24। 131) मिलते हैं। एकलिंगजी तथा राजपूताने के अन्य मन्दिरों के मठाधीश कुशिक के शिष्य-परम्परा में थे। ये साधु कान फड़वाते, सिर पर जटाजूट रखते और शरीर पर भस्म लगाते थे। ये विवाह नहीं करते थे; किन्तु ये चेले मूंडते थे।

राजपूताना के शिव-भक्त राजा अपने इष्टदेव शिव के बड़े-बड़े मन्दिर बनवाते थे और उनके साथ मठ भी होते थे। ये मठ बहुधा लकुलीश-सम्प्रदाय के कनफटे साधुओं के अधिकार में होते थे। ये लोग राजाओं के गुरु माने जाते थे। एकलिंग तथा मेनाल (मेवाड़) आदि के मठाधीश भी यही लोग थे। इन मन्दिरों के द्वार पर लकुलीश मूर्ति रहती है। इन मन्दिरों और मठों के निर्वाह के लिए बड़ी-बड़ी जागीरें दी जाती थीं। वर्तमान काल के नाथ लोग विशेषतः इसी सम्प्रदाय से निकले हुए हैं; परन्तु अब वे लोग लकुलीश का नाम तक नहीं जानते।[1]

---

1 कल्याण के 'शिवांक' से उद्धृत।

चित्तौड़ का कीर्तिस्तम्भ

कीर्तिस्तम्भ किसी घटना की कीर्ति को चिरस्थाई बनाने के लिये बनाये जाते हैं। जैसे दिल्ली से तेरह मील दूर महरोली गांव में कुतुबुद्दीन ऐबक की प्रसिद्ध कुतुब की लाट है, वैसे ही चित्तौड़ के किले पर महाराणा कुंभा (कुंभकर्ण) का बनाया हुआ प्रसिद्ध कीर्तिस्तम्भ भारत भर में हिन्दु जाति की कीर्ति का एकमात्र अलौकिक स्तम्भ है।

महाराणा कुंभकर्ण मेवाड़ के सिसोदिया राजाओं में सबसे प्रबल राजा हुआ। उसने अपनी वीरता से दिल्ली और गुजरात के सुलतानों का कितना ही प्रदेश अपने आधीन किया, जिस पर उन्होंने 'हिन्दु सुल्तान[1]' का खिताब देकर उसे हिन्दू बादशाह स्वीकार किया। उसने कई बार गुजरात के सुलतानों को हराया, नागौर को विजय किया। गुजरात और मालवे के सम्मिलित सैन्य को पराजित किया और राजपूताने का अधिक अंश एवं मांडू, गुजरात और दिल्ली के राज्यों का कुछ अंश छीन कर मेवाड़ को महाराज्य बना दिया। जैसा वह वीर एवं विजयी था, वैसा ही वह विद्यानुरागी भी था।

प्राचीन शिलालेख से पाया जाता है कि वह विद्याव्यसनी, विद्वानों का सम्मानकर्ता, साहित्यप्रेमी, संगीत का आचार्य, नाट्यकला में कुशल, कवियों का शिरोमणि, अनेक ग्रंथों का रचयिता, वेद, स्मृति, दर्शन, उपनिषद् और व्याकरण आदि का विद्वान् संस्कृतादि भाषाओं का ज्ञाता था। उसे शिल्प से भी बहुत अनुराग था, जिनमें से मुख्य और उल्लेखनीय चित्तौड़ का गढ़ और वहाँ की रथ पद्धति (सड़क), वहाँ का प्रसिद्ध कीर्तिस्तम्भ, कुंभ स्वामी का

---

1. विषमतमाभंग सारंगपुर-नागपुरगागरणनराणक अयजमेरू मंडोरमण्डकर बूंदीरवाटूचाटसूजनादिनानामहादुर्गलीनामात्र ग्रहणप्रमाणितजितकाशित्वाभिमानस्य............म्लेच्छ महीपालव्यालचक्रवाल विदलनविहंगमेंद्रस्य ....प्रबलपराक्रमाक्रान्त ढिल्लीमंडलगुर्जरत्रा सुरत्राणदत्ततपत्रप्रथितहिन्दुसुरत्राण विरदस्य............राणा श्री कुंभकर्ण सर्वोर्वीपति सार्वभौमस्य ....

राणपुर के जैनमन्दिर का शिलालेख; एन्युअल रिपोर्ट ऑफ दी आर्कियालोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, ई. स. 1908 पृ. 214।

मन्दिर, एकलिङ्गजी का मन्दिर और उससे पूर्व का कुंभ मण्डप, कुंभलगढ़ का दुर्ग, वहाँ का कुंभस्वामी का देवालय, आबू पर अचलगढ़ का किला तथा कुंभ स्वामी का मन्दिर आदि अब तक विद्यमान हैं।[1] यदि इन सबका वर्णन किया जावे तो एक पुस्तक बन जावे। हम आज 'मनोरमा' के पाठकों के मनोरंजन के लिए उनमें से केवल कीर्ति स्तम्भ का ही यहाँ वर्णन करते हैं।

महाराणा कुंभा के पिता मोकल की, चाचा व मेरा नामक पुरुषों ने हत्या की थी, उसमें महपा (महीपाल) पंवार भी शामिल था। कुंभा ने राज्य सिंहासन पर आरूढ़ होते ही चाचा व मेरा पर सैन्य भेजकर उन्हें मरवा डाला, परन्तु महपा पंवार वहां से भाग कर मांडू के सुल्तान महमूद खिल्जी (प्रथम) की शरण में चला गया। महाराणा ने सुलतान को महपा को सुपुर्द कर देने के लिए लिखा, जिसका उसने यह उत्तर दिया कि मैं अपने शरणागत को किस तरह सौंप सकता हूं? यदि आपकी युद्ध करने की इच्छा हो तो मैं भी तैयार हूँ।

यह उत्तर पाकर महाराणा ने मालवे पर चढ़ाई कर दी। इस चढ़ाई में महाराणा की सेना में 1,00,000 सवार और 1,400 हाथी थे। इधर से सुल्तान भी लड़ने को चला। वि सं. 1494 (ई स 1437) में सारंगपुर के पास दोनों सेनाओं का मुकाबला होकर घोर युद्ध हुआ, जिसमें महमूद हार कर मांडू को भाग गया। कुंभकर्ण ने सारंगपुर में असंख्य मुसलमान स्त्रियों को कैद किया। महमूद का महामद छुड़वाया, उस नगर को जलाया और

मालव सैन्य का संहार किया[1]। इस विजय के उपलक्ष्य में महाराणा ने चित्तौड़ पर यह विशाल कीर्तिस्तम्भ बनाया।

यह कीर्तिस्तम्भ चित्तौड़गढ़ पर के प्रसिद्ध गोमुख नामक जलाशय के तट स्थित समाधीश्वर के मन्दिर से कुछ ही दूर अनुमानतः 12 फुट ऊंची, 42 फुट लम्बी और उतनी ही चौड़ी वेदी पर खड़ा हुआ है। यह आकृति में चौकोर है और इसके प्रत्येक पार्श्व की लम्बाई 35 फुट है। इसमें कुल नौ मंजिल हैं और सात मंजिलों के चारों ओर एक-एक झरोखा बना हुआ है, जिससे स्तम्भ के भीतर पर्याप्त प्रकाश रहता है।

मध्य का भाग (गर्भ भाग) कुतुबमीनार की भांति गोल नहीं है, किन्तु चतुरस्र है और अन्दर स्थान भी इतना पर्याप्त है कि प्रत्येक मंजिल में 30-40 आदमी खड़े रहकर भीतर की मूर्तियां आदि का निरीक्षण कर सकते हैं। प्रत्येक मंजिल के अनुमानतः तीन चतुर्थांश भाग में परिक्रमा है, जिसके अन्त में ऊपर की मंजिल में जाने के लिए बहुधा सीढ़ियां बनी हुई हैं। सर्वोच्च भाग पर एक गुम्बज बना हुआ है, जहां का प्रत्येक पार्श्व 17 फुट लम्बा है। वेदी के ऊपर के भाग से गुम्बज तक की ऊंचाई 122 फुट है। सारे स्तम्भ पर क्या बाहर, क्या भीतर सर्वत्र खुदाई का काम, मूर्तियां बनी हुई हैं।

इसका द्वार दक्षिणाभिमुख है। द्वार में प्रवेश करते ही सामने जनार्दन की मूर्तियां दृष्टिगोचर होती हैं। वहां से दो सीढ़ी चढ़कर प्रथम मंजिल की परिक्रमा में जाने पर क्रमशः अनंत, रुद्र और ब्रह्मा की मूर्तियां तीनों पार्श्वों के मध्य की ताकों में बनी हैं। ब्रह्मा के निकट से दूसरे मंजिल में जाने की सीढ़ियां बनी हैं। दूसरी मंजिल की तीनों पार्श्वों के मध्य की ताकों में हरिहर (आधा शरीर विष्णु का और आधा शिव का), अर्द्धनारीश्वर (आधा शरीर

1- येनैका दीनादीनदिनाधिनाथा दीना बद्धा येन सारंगपुर्यां।
सीमाः प्रौढाः पारसीकाधिपाना ता, संख्यातुं नैव शक्नोति कोऽपि ॥268॥
महोमदो [illegible] भंगः [illegible] धनार्जनं वै।
इतीव सारंगपुरं विमोह्य महंमद [illegible] ॥269॥
.........[illegible] [illegible]।
सोऽपि [illegible] ॥270॥
(कुम्भलगढ़ की प्रशस्ति [illegible])

शिव का और आधा पार्वती का) और हरिहर पितामह (विष्णु, शिव और ब्रह्मा तीनों देवताओं की सम्मिलित एक मूर्ति) की मूर्तियां मुख्य हैं।

इनके मध्य के रिक्त स्थानों में क्रमशः अग्नि, यम, भैरव, वरुण, वायु, धनद, ईशान और इन्द्र इन दिशाओं की मूर्तियां बनाई गई हैं। तीसरी मंजिल के तीनों पार्श्वों के मुख्य ताकों में विरंचि, जदन्त नारायण और चन्द्रार्क पितामह की मुख्य मूर्तियां हैं। चौथी मंजिल नीचे लिखी हुई मूर्तियों से भरी हुई है—त्रिखण्डा, तोतला, त्रिपुरालक्ष्मी, नन्दा क्षेमकरी, मन्त्रेती, महारडा, भ्रामणी, सर्वमंगला, रेवती, हरिसिद्धि, लीला, सुशीला, लीनाक्षी, ललिता, लीलावती, उमा, पार्वती, गौरी, हिगुलाज श्री · · · ·[1], हिमवती आदि देवियों; बसन्त, शिशिर, हेमन्त, शरद, वर्षा और ग्रीष्म ऋतुओं, गङ्गा यमुना और सरस्वती नदियां तथा गंधर्व, विश्वकर्मा और कार्तिकेय की मूर्तियां बनी हैं। पांचवीं मंजिल के तीनों पार्श्वों के मध्य की ताकों में क्रमशः लक्ष्मीनारायण, उमा महेश्वर और ब्रह्मा–सावित्री की युगल मूर्तियां हैं।

इनके मध्य के रिक्त स्थानों में परशु, त्रिशूल, खड्ग, शक्ति, कुंत, तोमर, तूण, शक्तिशाल, भिल्ल, चक्र, शार्ङ्गधर, हल, भिंडि, दण्ड, मुद्गर, पाशिका, वज्र, कर्तरी, छुरिका, करवाल, परिघा, फलक, शंकु, अंकुश, दुःस्फोट, मुशुंडी, पट्टिश, अर्गला, फारिका, मृणाल, डमरू, कमल, आदर्श शंकु और खट्वाङ्ग नामक शस्त्रों की मूर्तियां बनी हैं। इनके नीचे मूर्तियों की एक और पंक्ति है, जिसमें रुद्रलिंग (शिवलिंग), कर्पूरमंजरी, शय्या, सभोग, शिल्पी[2] (कीर्तिस्तम्भ बनाने वाला) मृदंगिनी, नटी, शिक्षाकार, वाधिक पांच (नाटक के), हनुमान, सीता, राम-लक्ष्मण, सुग्रीव, अर्जुन, भीम, युधिष्ठिर, नकुल, द्रौपदी, सहदेव,

---

1– जिन मूर्तियों के नाम का अंश जाता रहा है, उनके स्थान में·······चिन्ह किया गया है।

2– शिल्पकारों की चार मूर्तियां खुदी हुई हैं, जिनमें से एक जड़ता की मूर्ति कुर्सी पर बैठी हुई है और उसके पास ही तीन खड़ी हुई मूर्तियां उसके पुत्रों की हैं, जिनके नाम नापा–पामा और पुंजा दिये हुए हैं। यह चारों इस स्तम्भ के बनवाने वाले मुख्य शिल्पी थे; क्योंकि 'शिल्पनः' खोद कर फिर प्रत्येक के नीचे उनके नाम खुदे हैं। दूसरी मंजिल वाले लेख में भी इनमें से तीन नाम दिये हुए हैं।

भिल्ल, दंभ, भैरव, वैताल, भूत, कुलटा, तरुणी, स्नातवनिता, मानिनी, मुग्धा, मत्समाता और कमंडलु की मूर्तियां हैं।

छठी मंजिल के तीनों पार्श्वों के मुख्य ताकों में क्रमशः महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली की मूर्तियां हैं। बीच के खाली स्थानों में मुनीगण, तपस्वी (कई जगह कोने में) मार्ग्याशक्ति, आग्नेय-शक्ति, वैणिक सेवक, भैरव, नट, हनुमत, लक्ष्मण, चमरहस्ता, व्यजनिनी, सेविका (कई स्थानों पर), कुंभहस्ता सावित्री, ब्रह्मा, गायत्री, गणधर, गणी, गलहार, शिवलिंग, पांडुरोगण, वारुणी, भैरवी, महाकाल, नर्तकी, सेवक, वरुण, भैरव, गणेश, कार्तिकेय, शिव, पार्वती, सितोगण, असितोगण, विजया, जया, नट, नर्तकी (कई जगह) श्रुतिधर, वांशिक, मार्दगिक, कौबेरी, वायवी, शिवपरिचारिका, पूजक, शिवभक्त, गायक, नंदीगण, भिल्ल, किरात रुद्र, शबरी रूप, भिल्ली आदि की प्रतिमाएं बनी हैं।

सातवीं मंजिल में भी सीढ़ियों के ऊपर के भाग में शिखर गुम्बज बना है। इस मंजिल में वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलदेव और बुद्ध आदि विष्णु के अवतारों की मूर्तियां हैं। यहां से सीढ़ियों के द्वारा आठवीं मंजिल पर पहुंचते हैं। पाषाण की सीढ़ियां, जो प्रत्येक खण्ड की परिक्रमा के अन्त से आरम्भ होकर ऊपर की मंजिल में जाती हैं, यहां समाप्त होती हैं।

आठवीं मंजिल के मध्य का भाग (गर्भ भाग) न होने से यहां कोई मूर्ति नहीं है और न झरोखे हैं। यहां चारों स्तम्भ बने हुए हैं और बाकी हिस्सा खुला हुआ है। यहां से लकड़ी की एक सीढ़ी लगी हुई है, जिसके द्वारा दर्शक नवीं मंजिल में पहुंच सकते हैं और जिस पर गुंबज[1] बना है। गुंबज के नीचे के भाग में कई शिलाओं पर खुदी हुई वि. सं. 1517 मार्गशीर्ष वदि 5 सोमवार की प्रशस्ति लगी हुई थी, जिसकी अब केवल दो शिलाएं पहली और अन्त के पूर्व की विद्यमान हैं और वे भी कुछ बिगड़ी हुई दशा में हैं। उनमें 48 श्लोक बचे हैं।

1— यह गुंबज उस पर बिजली गिरने से गिर गया था, जिससे वि. सं. 1911 में महाराणा स्वरूपसिंह ने किसी प्राचीन मन्दिर का गुम्बज उतरवा कर उसे यहां लगवा दिया, जिससे उसमें कमलों आदि की पंक्ति बराबर नहीं जमी। यह त्रुटि वास्तव में खटकती है।

इस प्रशस्ति की वि. सं. 1735 फाल्गुन वदि 7 को किसी पण्डित ने पुस्तकाकार नकल की थी, जो हमें मिल गई है। उससे पाया जाता है कि पहले 40 श्लोकों में बप्प (बापा) वंशी महाराणा हमीर से महाराणा मोकल तक का वर्णन है। तदनन्तर फिर एक से श्लोक का प्रारम्भ कर 187 श्लोकों में प्रशस्तिकार तथा उसके वंश का परिचय है। उक्त लिपि के लिखे जाने के समय भी कुछ शिलाएं नष्ट हो चुकी थी, जिससे कुम्भा के वर्णन के श्लोक 43-124 सब जाते रहे, फिर भी जो कुछ प्रशस्ति में कुम्भकर्ण के युद्धों का, शिल्पकार्यों, विद्या सम्बन्धी कार्यों आदि का बहुत कुछ वर्णन मिलता है, जो अन्य साधनों से ज्ञात नहीं हो सकता।

ऊपर लिखी हुई समस्त मूर्तियों के ऊपर या नीचे उनके नाम भी खुदे हुए हैं; जिससे हिन्दुओं के पौराणिक अनेक देवताओं की मूर्तियों का ज्ञान सम्पादन करने वालों के लिये यह अद्वितीय साधन है। गणपति आदि की मूर्तियां बाहर की तरफ खुदी हुई है। भारत भर के तमाम अजायबघरों में भी इनमें से केवल थोड़ी ही मूर्तियां सुरक्षित है। प्रतिमा परिचय के इस अलभ्य संग्रह को देखकर भारतवर्ष के पुरातत्व विभाग ने इन सब मूर्तियों के फोटो का एक ग्रन्थ प्रकाशित करने का विचार किया और उदयपुर राज्य ने उसके लिए पर्याप्त सहायता भी देना स्वीकार किया, परन्तु उन सब का फोटो लेना असम्भव जानकर उक्त विभाग ने इन तमाम मूर्तियों के चित्र तैयार करवा लिये हैं, जिनके पुस्तकाकार प्रकाशित होने पर भारत के विद्वानों के लिए पौराणिक मूर्तियों की अपूर्व सामग्री उपस्थित हो जायगी। मैंने कई बार इस कीर्तिस्तम्भ में बैठकर प्राचीन मूर्तियों के सम्बन्ध की अपनी शङ्काएं निवृत्त की है।

सम्पादकीय-टिप्पण

इस कीर्तिस्तम्भ की दीवारों में दरारें होकर ऊपरी भाग झुक गया था और ऊपर की मंजिल के गिर जाने का भय था। अतएव उदयपुर के महाराणा फतहसिंह के राज्यकाल के पिछले वर्षों में इसके जीर्णोद्धार का कार्य प्रारम्भ होकर वर्तमान महाराणा भूपालसिंहजी के शासनकाल में समाप्त हुआ, जिससे महाराणा कुम्भा की कीर्ति रक्षित हो गई है, एवं चित्तौड़ का दुर्ग देखने वाले यात्रियों को वह उक्त महाराणा की शिल्प-कला-प्रियता का आदर्श बतलाता है। इस बार के जीर्णोद्धार में ऐसी भूलें नही की गई है, जिनका श्री ओझाजी ने उल्लेख किया है।

इसकी दूसरी मंजिल में उत्तर या पूर्व की जाली पर दो पंक्तियों का एक लेख खुदा है, जिसका आशय यह है कि वि. सं. 1499 फाल्गुनसुदि 2 महाराजाधिराज राणा श्री कुम्भकर्ण के विजय राज्य के समय सूत्रधार जैता और उसके पुत्र नापा और पूंजा श्री समिद्धेश्वर को प्रणाम करते हैं। इस लेख से निश्चित है कि नीचे की वेदी और कीर्तिस्तम्भ की दो मंजिलें उक्त संवत् तक बन चुकी थी। अतएव उसका आरम्भ वि.सं. 1495 या 1496 में हुआ होगा। उक्त स्तम्भ की समाप्ति वि. सं. 1505 माघसुदि 10 को हुई थी[1]।

भारतवर्ष में इसके बराबर ऊंचा कोई दूसरा स्तम्भ या मिनार नहीं है। इस स्तम्भ के भीतर और बाहरी हिस्से में सचित्र सुन्दर खुदाई का काम है और इसके महत्त्व का इसके साक्षात् देखे बिना अनुमान ही नहीं किया जा सकता। इसके बनाने में कई करोड़ रुपये व्यय हुए होंगे। इतिहास-प्रेमियों, भारत के प्राचीन शिल्प के अनुरागियों और हिन्दू जाति के गौरव का अभिमान रखने वालों से हमारा सविनय अनुरोध है कि वे एकबार चित्तौड़ की वीर भूमि में पदार्पण कर राजपूत जाति के गौरव के इस एकमात्र अवशेष महाराणा कुम्भा के अपूर्व अश्रुत और दर्शनीय स्मारक कीर्तिस्तम्भ को देखकर जीवन सफल करें।

(मनोरमा, काशी वर्ष 3, भाग 2, संख्या 5, पृ. 554-58 सम्मेलनांक-फरवरी 1927, वि. सं. 1983)।

1- पुण्येपंचदशेशते व्यपगते पंचाधिकेवत्सरे ।
माघेमासिवलक्षपक्ष दशमी देवेज्यपुष्यागमे ।
कीर्तिस्तम्भमकारयन्नरपतिः श्री चित्रकूटा चले
नानानिर्मित निर्जराकरणं मेरोर्हसंतश्रियं ॥185॥

(कीर्तिस्तम्भ की प्रशस्ति अप्रकाशित)

कविराजा बांकीदास

वीर-भूमि राजस्थान डिंगल-भाषा के कवियों की खान है। समय-समय पर यहां ऐसे कवि-रत्न उत्पन्न हुए हैं, जिन्होंने युद्धों के प्रसंगों पर ओजस्वी रचनाओं द्वारा जादू का काम किया है। आज से लगभग 150 वर्ष पूर्व मारवाड़ में एक ऐसे ही व्यक्ति का जन्म हुआ था, जो सच्चा कवि, इतिहास का मर्मज्ञ और साहित्य में उच्च कोटि का विद्वान् था। अतएव इस लेख द्वारा पाठकों को उक्त राजस्थान के कवि-रत्न का किंचित् परिचय कराया जाता है।

चारण और भाटों का राजपूताने में दीर्घकाल से बड़ा मान चला आ रहा है। सच पूछा जाय तो क्षत्रियों की वीरता को जीवित रखने वाले भी यही लोग रहे हैं। यही कारण है कि राजस्थान में इन लोगों को बड़ी-बड़ी जागीरें मिली हुई हैं। इस लेख के चरित्र नायक कविराजा बांकीदास का जन्म चारण जाति के आसिया-कुल में, वि. स. 1828 (ई. स. 1771) में जोधपुर राज्य के पचभदरा परगने के भाडियावास गांव में हुआ था। अपने पिता से कविता का सामान्य ज्ञान प्राप्त कर वि. स. 1854 (ई.स. 1797) के लगभग वह जोधपुर गया। वहां निरन्तर पांच वर्ष तक भिन्न-भिन्न व्यक्तियों से भाषा के काव्य-ग्रन्थ, व्याकरण में सारस्वत और चंद्रिका, साहित्य में कुवलयानंद तथा काव्य-प्रकाश आदि ग्रन्थों का अध्ययन कर हिन्दी भाषा के काव्य-ग्रन्थों द्वारा उसने विस्तृत ज्ञान-वृद्धि की।

उस समय मारवाड़ राज्य के सिंहासन को महाराजा मानसिंह सुशोभित करते थे, जो विद्या-रसिक काव्य-प्रेमी और कवियों के आश्रयदाता थे। वि. सं. 1860 (ई. सन् 1803) में बांकीदास की पहुंच उक्त महाराजा के पास हुई। इनकी अद्भुत कवित्व शक्ति, सत्यवादिता और निर्भीकता आदि गुणों से मुग्ध होकर प्रथम अवसर पर ही उक्त गुणग्राही महाराजा ने उसको लाख-पसाव

नामक पारितोषिक देकर अपने राजकवियों में स्थान दिया। महाराजा मानसिंह स्वयं कवि था। उसने अपनी ज्ञान-शक्ति का विकास करने के लिये बांकीदास से साहित्य के ग्रन्थों का पढ़ना आरम्भ किया और उसमें शीघ्र ही अच्छी गति प्राप्त कर ली। महाराजा ने उसको 'कविराजा' की उपाधि, ताज़ीम पांव में सोना और बांहपसाव आदि से सम्मानित किया तथा कागजों पर लगाने के लिए मोहर (मुद्रा) रखने का मान दिया और उसमें उसको अपना शिक्षा-गुरु होने के वाक्य खुदवाने की आज्ञा दी, जो नीचे लिखे अनुसार है—

"श्रीमान् मान धरणिपति बहु-गुन-रास
जिन भाषा गुरु कीनो बांकीदास।"

शरीर स्थूल होने के कारण कविराजा बांकीदास को चलने-फिरने में कठिनाई होती थी और वृद्धावस्था में वह पैदल चलने में असमर्थ हो गया था। वह जब जोधपुर के किले में जाता तो जहां तक सवारी जाती है, वहां तक पालकी में बैठकर जाता; उसके आगे कहार तथा छोटे नौकर उसको लकड़ी के पाटे पर बिठाकर ले जाते थे। ज्योंही उसका पाटा महाराजा मानसिंह के सामने पहुंचता, त्योंही महाराजा खड़े होकर उसको ताज़ीम देते और वह पाटे पर बैठा हुआ ही महाराजा जो विरुद सुनाता था।

वह डिंगल भाषा एवं पिंगल शास्त्र का पूर्ण ज्ञाता तथा आशुकवि था। उसकी धारणा-शक्ति इतनी प्रबल थी कि एक बार भी किसी के मुंह से कोई बात सुनता, तो उसको ज्यों की त्यों अपने मुंह से सुना देता था। उसकी वीर-रसपूर्ण कविता बड़ी चित्ताकर्षक होती थी। उसका इतिहास-ज्ञान भी बढ़ा-चढ़ा था। एक बार ईरान का कोई सरदार भारतवर्ष की सैर करता हुआ जोधपुर पहुंचा, और महाराजा से मुलाकात होने पर उसने किसी इतिहासवेत्ता से बातचीत करने की इच्छा प्रकट की। इस पर महाराजा ने बांकीदास को ही उपयुक्त समझ इस सरदार के पास भेजा। ईरानी सरदार उससे मिलकर बड़ा ही प्रसन्न हुआ। उसने उसके ऐतिहासिक ज्ञान की प्रशंसा लिख कर महाराजा के पास भेजी, जिसमें महाराजा ने बड़ा गौरव समझा।

कविराजा बड़ा स्वाभिमानी था। एक समय महाराजा मानसिंह नेत्र-रोग से पीड़ित हुए और वह पीड़ा छः मास तक बनी रही। विवश होकर महाराजा ने आंखों को दूषित वायु से बचाने के लिये पर्दे के भीतर रहना स्वीकार किया, और राज्य के कर्मचारियों को अपने सामने बुलाना छोड़ दिया। उन दिनों

राजकर्मचारियों को महाराजा से कोई बात कहनी होती, तो वे पर्दे के बाहर बैठकर निवेदन करते थे। उस अवसर पर एक दिन महाराजा को कविराजा की आवश्यकता हुई। दो-तीन बार नौकर भेज उनको हाजिर होने के लिए कहलाया, किंतु प्रत्येक बार उनने बीमार होने का बहाना किया। तब उनके पुत्र ने उनको महाराजा के अप्रसन्न होने का डर दिखलाकर महलों में जाने का आग्रह किया। इस पर उनने पर्दे के बाहर बैठकर महाराजा से बात करने में अपना अपमान होना प्रकट कर महाराजा के पास जाने से साफ इनकार किया। यह बात सेवक ने ज्यों-की-त्यों महाराजा से कह सुनाई। इस पर महाराजा ने उस सेवक को फिर भेजकर कविराजा को कहला भेजा कि यदि मेरी आँख की पीडा बढ़ जावे, तो कोई चिंता नहीं, पर आपको बाहर बिठलाकर बात नहीं करूंगा। तब वह दरबार में गए। गुण-ग्राहक महाराजा ने नेत्र की पीडा होने पर भी कविराजा को अपने सम्मुख बुलाकर बात-चीत की।

महाराजा ने अपने राजकुमार छत्रसिंह की शिक्षा का भार कविराजा पर छोड़ा था; किन्तु कविराजा ने कुँवर के लक्षण देखकर जान लिया कि वह अवगुणों का भंडार है, उस पर शिक्षा का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ेगा, इसलिए उसने राजकुमार को शिक्षा देना छोड़ दिया। महाराजा मानसिंह को जब ज्ञात हुआ कि कविराजा राजकुमार को शिक्षा देने के लिए नहीं जाते, तब उनसे उसमें राजकुमार को न पढ़ाने का कारण पूछा। कविराजा ने कहा 'यह कुपूत है, इसको शिक्षा देकर मैं अपनी कीर्ति में बट्टा लगाना नहीं चाहता।' आगे जाकर उनका कथन अक्षरशः ठीक निकला और महाराजा मानसिंह को छत्रसिंह के कारण बड़ी-बड़ी आपत्तियाँ उठानी पड़ीं।

कविराजा की अद्भुत काव्य-कला की प्रशंसा सुन मेवाड़ के महाराणा भीमसिंह ने जो काव्य के ज्ञाता थे, उन्हें उदयपुर बुलाकर विशेष रूप से उनका सम्मान करना चाहा, परन्तु उन्होंने जोधपुर नरेश के अतिरिक्त अन्य किसी से दान न लेने की प्रतिज्ञा कर ली थी, इसलिए महाराणा से प्रतिग्रह लेना अस्वीकार कर उसके लिये धन्यवाद-पूर्वक क्षमा याचना की।

जब सूरसागर पर जनानी सवारी पहुँची और रानी ने बाँकीदास की धृष्टता का हाल महाराजा से निवेदन करना चाहा, तो महाराजा ने यही उत्तर दिया —'हम यहाँ आमोद-प्रमोद के लिये आए हैं, इसलिए जिस किसी को हमारे आनन्द मे बाधा उपस्थित करना हो, वही यहाँ अर्ज करे; नहीं तो जोधपुर लौटने के बाद जो कुछ अर्ज करना हो, करे।' फिर महाराजा जोधपुर लौटे तब रानी ने कविराजा की गुस्ताखी की बात महाराजा से कह सुनाई। इस पर महाराजा ने उत्तर दिया —'यदि मैं चाहूँ, तो आप-जैसी बहुत रानियां ला सकता हूँ, परन्तु ऐसा दूसरा कवि मुझको नही मिल सकता। इसलिए अब इस विषय मे मौन धारण करना ही अच्छा होगा।' इस पर वह चुप्प हो गई।

महाराजा मानसिंह के पूर्व जोधपुर की गद्दी पर उसका चचेरा भाई भीमसिंह ने गद्दी पर बैठते ही अपने कई भाई-भतीजों को मरवा डाला था। इस कारण महाराजा मानसिंह वहाँ से भागकर जालोर में, जो बचाव के लिये सुरक्षित स्थान था, जा बैठा। उसको वहाँ से निकलने के लिये महाराजा भीमसिंह ने सिंघवी इन्द्रराज को सेना देकर भेजा, जिसने जालोर के किले को घेर लिया, और मानसिंह को यहाँ तक तंग किया कि वह विवश होकर किले से निकल जायें। उक्त किले मे जलधरनाथ का एक स्थान था। वहाँ के आयस (कनफड़ानाथ) देवनाथ ने उससे कहा —'यदि आप छः दिन और इस किले में रह जाओगे तो यह आपके हाथ से कभी नही निकल सकेगा, और आप मारवाड़ के स्वामी होकर जोधपुर पहुचोगे।' इन वाक्यों पर उसको दृढ़ विश्वास हो गया, और अनेक आपत्तियां सहने पर भी उन्होंने जालोर के किले को न छोड़ा।

इन्ही दिनों जोधपुर मे महाराजा भीमसिंह के देहान्त हो जाने का समाचार इन्द्रराज को मिला। जोधपुर का तमाम सैनिक-बल इंद्रराज के अधिकार में था, इसलिए उसने सोचा, यदि कोई दूसरा गद्दी पर बैठ गया, तो सरदार उसे अपने काबू में कर लेंगे, और मानसिंह को गद्दी पर बिठाया जाये, तो वह अपने हाथ में रहेगा और उन पर यह बड़ा उपकार का काम होगा। निदान उसने महाराजा मानसिंह को यह सूचना देकर बिना संकोच उन्हें जोधपुर आने के लिये कहलाया, परन्तु उसे विश्वास नहीं हुआ। अन्त में जब उसे निश्चित रूप से भीमसिंह की मृत्यु का हाल ज्ञात हुआ और उसके विरुद्ध होने वाले षड्यन्त्र का भय मिट गया, तब वह जालोर से आकर जोधपुर के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ।

इसके बाद महाराजा ने आयस देवनाथ की भविष्यवाणी को स्मरण कर [illegible] अपना गुरु बनाया, जिससे नाथों का उत्कर्ष बहुत बढ़ा; परन्तु महाराजा

सदा उस बात की उपेक्षा ही करते रहे। अन्त में नाथों के उपद्रव से तंग होकर सरदारों ने आयस देवनाथ को अमीरखाँ पठान के द्वारा मरवा डाला और कुँवर छत्रसिंह को महाराजा के हाथ से राज्याधिकार दिलवा दिया। इतना ही नहीं, कुँवर को चापासेनी के वल्लभ-सम्प्रदाय के गोसाईं द्वारा मन्त्रोपदेश दिलवाया, जिससे वहाँ कनफड़ों का प्रभाव हटने लगा। उस समय कविराजा ने महाराजा के अप्रसन्न होने की कुछ भी परवाह न कर नाथों का निंदा-सूचक एक सवैया कहा, जिसका अंतिम चरण इस प्रकार है—

'मान को नंद गोविंद रहे, जद, फटे कनफट्टन की।'

युवराज छत्रसिंह शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त हुआ। तदनंतर फिर राज्याधिकार महाराजा मानसिंह ने अपने हस्तगत कर लिया। नाथों के बड़े पक्षपाती होने के कारण उक्त महाराजा ने कविराजा के कहे हुए उक्त दोहे से चिढ़कर उनको दंड देना चाहा। महाराजा के क्रूर स्वभाव से कविराजा अपरिचित न थे। इसलिए जो नौकर उन्हें बुलाने आया, उससे कहा कि मैं हाजिर होता हूँ, तुम चलो। किंतु वह *महाराजा के पास नहीं गया*, और तेज चलने वाले ऊँट पर सवार होकर, मारवाड़ का परित्याग कर मेवाड़ चल दिया। वहाँ पर उनका वैसा ही आदर रहा, जैसा जोधपुर में था। महाराजा को कविराजा के मारवाड़ छोड़ देने पर बड़ा दुःख हुआ। अन्त में उसने बहुत कुछ अनुनय-विनय करके उनको फिर जोधपुर बुला लिया।

श्रावण-सुदि 3, वि. स 1890 (ई स. 1833) को कविराजा का परलोक-वास हुआ। महाराजा मानसिंह को उनकी मृत्यु पर बड़ा शोक हुआ, और निम्न-लिखित सोरठों में उन्होंने अपने हृदयोद्गार प्रकट किए—

'सद्विद्या बहु साज, बांकी थी बांका बसु,
कर सुधी कविराज, आज कटीगो आसिया।
विद्या कुल विख्यात, राज काज हर रहसरी,
बांका तो बिण बात, किण आगल मनरी कहाँ।'

कविराजा बांकीदास-रचित डिंगल और ब्रजभाषा के छोटे-बड़े कई ग्रन्थ हैं और उनकी फुटकर कविताएँ और गीत तो अनेक हैं। महाभारत के कुछ अंश का हिंदी-अनुवाद भी उसने किया था, परन्तु अभी तक वह अप्रकाशित ही है। सूर-भाषा की गंगालहरी आदि 24 ग्रन्थों में से निम्न-लिखित ग्रन्थ नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी ने बांकीदास राजपूत-चारण-पुस्तकमाला में, दो भागों में, प्रकाशित किए हैं।

पहले भाग में :— (1) सूर-छत्तीसी, (2) सीह-छत्तीसी, (3) वीर-विनोद, (4) धवल-पच्चीसी, (5) दातार-बावनी, (6) नीति-मंजरी और (7) सुपह-छत्तीसी।

दूसरे भाग में :—(1) वैसक-वार्ता, (2) मावडिया-मिजाज, (3) कृपण-दर्पण, (4) मोह-मर्दन, (5) चुगल-मुख-चपेटिका, (6) वैस-वार्ता (7) कुकवि-बत्तीसी, (8) विदुर-बत्तीसी, (9) सुरजाल-भूषण और (10) गंगालहरी।

अप्रकाशित :— (1) झमाल, (2) जेहल-जस-जड़ाव, (3) सिधराव-छत्तीसी, (4) संतोष-बावनी, (5) सुजस-छत्तीसी, (6) वचन-विवेक-पच्चीसी और (7) कायर-बावनी।

कविराजा बांकीदास की कविता डिंगल-भाषा में प्रायः वीर-रस-पूर्ण हुआ करती थी, जिसका राजपूताने में बड़ा सम्मान है किन्तु समय-समय पर उसने अपनी कविता मे अन्य रसों का भी प्रयोग किया है। कहते हैं, जयपुर और जोधपुर के महाराजों के आपस के वैर को मिटाने के लिये महाराजा मानसिंह ने अपनी कन्या का विवाह जयपुराधीश जगतसिंह के साथ तथा जगतसिंह ने अपनी बहन का विवाह मानसिंह के साथ कर दिया था। उस समय हिन्दी के प्रसिद्ध कवि पद्माकर और बांकीदास के बीच काव्य-चर्चा हुई, जिसमें बांकीदास ने बाजी मार ली। उसकी डिंगल-भाषा की कविता ओज-पूर्ण, प्रसाद-गुण-युक्त, उत्कृष्ट एवं सुधरी हुई होती थी। उसका ऐतिहासिक ज्ञान भी अगाध था। मेरे संग्रह में उसकी लिखी हुई अनुमानतः 2,800 ऐतिहासिक बातों का संग्रह है, जो अब तब अप्रकाशित है। वह संग्रह केवल राजपूताने के इतिहास के लिये ही उपयोगी है; इतना ही नहीं किन्तु राजपूताना के बाहर के राज्यों तथा मुसलमानों के इतिहास की भी उसमें कई बातें उल्लिखित है [1]।

सुधा, (मा. प.) लखनऊ;
वर्ष 9, खंड 1, सं.

---

1. कविराजा बांकीदास का पौत्र मुरारिदान साहित्य का विद्वान और अच्छा कवि था। जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह (दूसरे) के नाम पर उसने अलंकार का भाषा में 'जसवंतजसोभूषण' नामक बृहद् ग्रंथ रचा। उसकी योग्यता आदि सद्गुणों से प्रेरित हो अंग्रेजी सरकार ने उसको महामहोपाध्याय का खिताब दिया था।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

(नवीन संस्करण)

दूसरा भाग—संवत् 1978

1-निवेदन ।

इस संख्या से नागरीप्रचारिणी पत्रिका के नये सन्दर्भ का दूसरा वर्ष प्रारम्भ होता है। सम्पादकों ने अपनी बुद्धि और शक्ति के अनुसार पत्रिका की, पाठकों की तथा हिंदी की जो कुछ सेवा गत वर्ष में की है वह विवेकी पाठकों के सामने है। पत्रिका को समय पर प्रकाशित करने का निरन्तर उद्योग करते रहने पर भी हम इसमें कृतकार्य न हुए, विशेषत प्रेस की लम्बी हड़ताल से पत्रिका इतनी अधिक पिछड़ गई कि इस विषय में कुछ निवेदन ही नहीं किया जाता। यद्यपि ऐसे विषय की सामयिक पत्रिकाएं साप्ताहिक या मासिक पत्रों की तरह नियत समय पर ही निकल जायें यह सम्भव नहीं, तो भी इस वर्ष इस शिथिलता को यथाशक्ति दूर करने का प्रयत्न किया जायगा।

ज्ञान-विस्तार। अंगरेज़ी तथा अन्य भाषाओं के पत्रों में जो पुराने शोध के
लेख छपते हैं उनकी सूची देकर, हर एक पर पंक्ति दो पंक्ति में अपना मत देकर,
सबके समालोचक बनने का दुःसाहस भी हमसे न किया जा सका।

जहां तक हो सका वैसे ही लेख लिखे और छापे गए हैं जिनमें कोई
नवीनता हो जिनसे पाठकों की ज्ञान-वृद्धि हो, जिनसे इतिहास के किसी अंग
पर नया प्रकाश पड़े तथा जिनमें लेखकों का जहां तक सम्भव हो कुछ [illegible]
परिश्रम हो। यह सम्भव है कि एक ही प्रांत या एक ही विषय पर अधिक
लेख छपे हो, किन्तु इस प्रादेशिकता की त्रुटि को विचारते समय कृपा करके पाठक
ध्यान मे रखना चाहिए कि सम्पादकों और लेखकों का अभ्यास और श्रम जिस
विभाग या प्रान्त के विषय में अधिक हो उसी पर वे अधिक और अच्छा लिख
सकते है। पुरातत्व के विषय में रुचि रखने-वाले सज्जनों की संख्या थोड़ी है।
कुछ लोग तो यथाश्रुतग्राही हैं, जितनी खोज हुई है उसी से संतुष्ट हैं।

कुछ लोग खोज की खुजलाहट को नास्तिकता समझते हैं और पुरानी दंत-
कथाओं से आगे बढ़ नही सकते। खोजियों मे जो हिन्दी जानते हैं उनकी संख्या
और भी थोड़ी है। जो अंगरेज़ी का मोह छोड़ कर हिन्दी में कुछ लिखना-
पढ़ना चाहते हैं उनकी संख्या उससे भी थोड़ी है। जो सम्पादकों की प्रार्थना
पर लेखों से पत्रिका को भूषित करने की कृपा करते हैं उनकी संख्या और भी
थोड़ी है। इसलिए प्रादेशिकता के दोष को मिटाने का उपाय हमारे हिन्दी-
प्रेमियों के ही हाथ में है।

इस वर्ष इस बात का अधिक यत्न किया जायगा कि हिन्दी भाषा के
सम्बन्ध रखने वाले विषयों पर अधिक लेख प्रकाशित हों। पुरानी हिन्दी के
विषय में जो लेखमाला इस अंक से आरम्भ की जाती है उसमें कई लेख
प्रकाशित होंगे जो आशा है कि पाठकों को रुचिकर होंगे।